अणुव्रत-दर्शन



मुनिश्री नथमलजी









प्रकाशक

अणुव्रत समिति

३, पोचुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता १

प्रकाशक
शुभकरण सुराना (साहित्य मंत्री)
अणुव्रत समिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता १

सप्तम अणुव्रत सम्मेलन सरदारशहर के अवसर पर
दिनांक १२ अक्टूबर, १९५६
प्रथम संस्करण २०००

मूल्य ॥)

मुद्रक
धन्नालाल बरडिया
रेफिल आर्ट प्रेस,
(आदर्श साहित्य संघ द्वारा संचालित)
३१ बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

भूमिका

गत दोनों विश्व-युद्धों की धधकती-ज्वाला में करोड़ों इन्सानों की मुस्कराती जिन्दगी की करुण कहानी और नर रक्त से खेली जानेवाली उदास होली के गीले छींटे इतिहास के पृष्ठों पर अभी तक उभरे हुए हैं उनकी स्मृतियाँ आज भी ज्यों की त्यों ताजा बनी हुई हैं। यह सब हुआ और सबने देखा भी परन्तु प्रश्न आज तक उपस्थित है—आखिर यह सब क्यों हुआ? केवल संसार में शान्ति स्थापित करने के लिये दुनिया में अमन चैन लाने के लिये। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मानव हत्या के जो क्रूर साधन प्रयोग में लाये गये उन्होंने सिद्ध कर दिखाया कि युद्ध और हिंसा से वास्तविक शान्ति की स्थापना असम्भव है। अत: यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि हम हिंसा-अहिंसा व युद्ध मैत्री आदि में से कौन सा मार्ग अपनाएँ, किस रास्ते पर चलें? ऐसी परिस्थिति में जबकि अणु और परमाणु बमों की चकाचौंध में अन्धा होकर आज का मानव निरन्तर विनाश के बीज बो रहा है, अणुव्रत सचमुच ही एक दिव्य आलोक और युग की माँग-सा दृष्टिगोचर होता है।

आज सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की है कि इस शताब्दी में हर कोई दूसरों को उपदेश देने के लिये उठ खड़ा होता है, स्वयं अपने आपको देखने और आत्म निरीक्षण का कष्ट ही नहीं उठाता। पिछले महायुद्ध के समय जब मैं कराची में था तो मेरे सात वर्षीय बच्चे ने मुझसे कई प्रश्न किये कि एटॉमिक विमान और दूसरे विमान में क्या अन्तर है, हिटलर किस तरह इतनी शीघ्रता से इतने देशों को अपने शासन में ला रहा है? उन दिनों

समाचारपत्रों में प्रति दिन युद्ध से सम्बन्धित देशों के नक्शे दिये जाते थे। मैंने भी एक मूर्ख पिता के समान इन प्रश्नों का उत्तर न देते हुए उसे टालने के वास्ते नक्शों में दिखाये गये देशों को अलग अलग काटकर उसे दे दिया ताकि वह उसे पुनः जोड़कर ले आये और इस तरह मुझे उसकी इस विचित्र जिज्ञासा को पूरा करने से छुट्टी मिले। परन्तु उस समय मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब देखा कि वह एक ही मिनट में सारा नक्शा जोड़कर ले आया। चकित होकर मैंने उससे पूछा कि इतनी शीघ्रता से उसने यह सब कैसे कर लिया है? उसका जो उत्तर था वह मुझे शिक्षाप्रद प्रतीत हुआ। समाचारपत्र के जिस पृष्ठ से मैंने उसे वह नक्शा काटकर दिया था उसके पीछे के विज्ञापन में एक मनुष्य का चित्र था। वह कहने लगा—मैंने तो केवल मनुष्य को ठीक किया है और आपका सारा संसार स्वयं ठीक हो गया है।

आज के अणुयुग में यही उपाय चाहिये। यदि एक प्राणी संयम से अपने आपको ठीक करता है तो समस्त संसार स्वयं ठीक हो जाता है। हम व्यर्थ ही जन-समूह के जीवन-संशोधन के उपदेश बखानते हैं यदि एक एक करके हम केवल अपने आपको 'अणुव्रतों' के अनुसार चलाने का प्रयत्न करें तो संसार का कल्याण स्वयं हो जाय। मुनिश्री नथमलजी ने आकार में छोटी परन्तु जीवन-सुधार के कार्य में बहुत बड़ी पुस्तक 'अणुव्रत-दर्शन' लिखकर मानव जाति पर बड़ा उपकार किया है। यदि हम इन नियमों पर चलकर अपने को अहिंसात्मक रूपसे पूर्णतया अणुव्रती बना लें तो उनका यह परिश्रम सफल होगा और हम भी संसार में शान्ति के प्रसार में हाथ बंटा सकेंगे।

अणुव्रत समिति को इस बहुमूल्य कार्य के लिये बधाई देता हूँ कि उसने अणुव्रत प्रचार के इस कार्य भार को अपने ऊपर लेकर संसार की एक बहुत बड़ी आवश्यकता को पूरा किया है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय —(प्रो०) हीरालाल चोपड़ा

२७ ९ ५१

अनुक्रम

- व्यक्तिगत सुधार हृदय परिवर्तन-मूलक होता है इसलिये वह स्थायी, स्वतन्त्र और आत्मिक होता है। समष्टिगत सुधार बलात्कृत होता है, इसलिये वह अस्थायी परतन्त्र और अनात्मिक होता है।
- संयम प्रधान समाज अजेय होता है। उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। संयम से आत्म-बल का विकास होता है। उससे अन्याय के प्रति असहयोग की शक्ति उत्पन्न होती है।
- अहिंसा सत्य और अपरिग्रह की भित्ति पर अवस्थित समाज चिर-समृद्ध और चिर सुखी रह सकता है। उसे अपने नैतिक पतन का कभी सन्देह नहीं होता।

—आचार्यश्री तुलसी

१

इच्छा-परिमाण या परिग्रह का सीमाकरण

जीवन की आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती फिर भी यह सच है कि वे साध्य नहीं हैं। वे केवल जीवन धारण की साधनमात्र हैं। जीवन का साध्य है—उसकी पवित्रता जो जीवन चलाने के लिए नहीं किन्तु उसे ऊर्ध्वमुखी और विराट् बनाने के लिए है।

आवश्यकता की पूर्ति पवित्रता का साधन नहीं है वह भूमिका बन सकती है। आवश्यकता पूरी न हो यह विषम परिस्थिति है। इससे मनुष्य क्रूर बनता है। आवश्यकता-पूर्ति के साधन अति अधिक हों यह भी विषम परिस्थिति है। इससे भी मनुष्य विलासी बनता है। सम परिस्थिति वह हो सकती है, जिसमें श्रम करनेवाला आवश्यकता पूरी किये बिना न रहे और श्रम न करनेवाला अधिक न पाये। क्रूरता और विलास, ये दोनों ही चरित्र विकास के बाधक हैं। सम परिस्थिति इन्हें बढ़ने के लिये उत्तेजित नहीं करती। इसलिए वह चरित्र विकास की श्रेष्ठ भूमिका बन सकती है साधन नहीं। सम परिस्थिति में भी क्रूरता और विलास का अन्त नहीं होता, किन्तु विषम स्थिति से इन्हें जो सामूहिक उत्तेजना

मिलती है वह सम स्थिति से नहीं मिलती। इसलिए उसे चरित्र विकास की योग्य भूमिका कहा जा सकता है। पहला प्रश्न है—सम स्थिति बने कैसे ? मनुष्य में मोह होता है दुर्बलताए होती हैं इसलिए वह सबसे अधिक बड़ा बनना चाहता है बिना श्रम किये सबसे अधिक सुविधाए जो सर्वाधिक सुलभ हों और श्रम भी करना न पड़े, उस स्थिति का नाम है—बड़प्पन। इस बड़प्पन का अपना दोष है—विलास जो दूसरों म क्रूरता पैदा करता है।

मनुष्यमात्र में बुद्धि का तारतम्य होता है और भाग्य का भी, युग की भाषा में अवसर का भी। बुद्धि और भाग्य दोनों के सुमेल से श्रम किए बिना अधिक सुविधायें पाने का प्रयत्न किया जाता है और वह सफल भी होता है। किन्तु इसका सुफल नहीं होता।

अधिक बुद्धि और भाग्य या अवसर मिले यह व्यक्ति का उत्कर्ष है पर उसे उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। दूसरों की अल्पज्ञता और दुर्भाग्यता से अनुचित लाभ उठाने की बात नहीं सोचनी चाहिए।

संयम का मार्ग

सम स्थिति के लिए समाजवाद का सूत्र है—एसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें कोई किसी का शोषण न कर सके। इसके अनुसार बुराई और भलाई का मूल स्रोत परिस्थिति ही है, व्यक्ति नहीं। वह परिस्थिति का दास बनकर उसी के जैसा रूप किये चले चलता है। वर्ग भेद की स्थिति में शोषण हुए बिना नहीं रहता। सम्पत्तिशाली वर्ग अकिंचन वर्ग पर मनमानी करता है और उसे विवश होकर सारी स्थितियां सहनी पड़ती हैं। सहने की स्थिति चरम बिन्दु पर पहुंचती है तब संघर्ष छिड़ता है

और वह वर्गहीन समाज न बने तबतक चलता ही रहता है। इसलिए सम स्थिति का निर्विकल्प समाधान है—वर्गहीन समाज की रचना।

अणुव्रत आन्दोलन का प्रवाह आध्यात्मिक है। वह व्यक्ति को परिस्थिति का स्रष्टा मानता है और विजेता भी। इसके अनुसार अच्छाइ और बुराई का कारण परिस्थिति ही है – यह एकान्तवाद मिथ्या है। व्यक्ति स्वभाव से भला ही है यह एकान्तवाद भी मिथ्या है और वह स्वभाव से बुरा ही है, यह एकान्तवाद भी मिथ्या ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी शुद्धि की मात्रा तक भला होता है और विकृति की मात्रा तक बुरा। परिस्थिति उसकी भलाइ (सगुण) और बुराइ (विगुण) का निमित्त बनती है।

जीवन की दो धाराएं हैं —आवश्यकता और पवित्रता। आवश्यकता बाहरी स्थिति पर निर्भर है और पवित्रता आन्तरिक स्थिति पर। यह सच है श्रम और भोग के सामान्य सन्तुलन के बिना सम स्थिति नहीं बन सकती। जब आन्तरिक स्थिति सम नहीं होती, तभी बाह्य स्थिति विषम बन जाती है। एक बुद्धिमान व्यक्ति दूसरों का शोषण कर सकता है पर करता नहीं—यह उसकी आन्तरिक स्थिति की समता है। पर कम या भाग्य के नियम निश्चित ही नहीं होते कि भाग्यशाली को अधिक संग्रह और विलास करना ही पड़े। जब स्वयं का असंयम और परिस्थिति की अनुकूलता मिल जाती है तब वह वैसा कर बैठता है। संयम का मार्ग है—प्रत्येक व्यक्ति बुद्धि और भाग्य का तारतम्य होने पर भी संग्रह और विलास से बचकर चले। संयम के साधन अकिंचन हैं इसलिए बाहरी स्थिति को व प्रत्यक्षतया सम नहीं बनाते किन्तु अशोषण, असंग्रह और अनासक्ति संयम का सहज स्वरूप है, इसलिए उसके होते स्थिति विषम बन नहीं सकती।

न चाहे। इसलिए वह सबको एक रूप बनने के लिए बाध्य कर सकती है और इसीलिए वैषम्य का अन्त चाहनेवाले जन क्रान्ति या रक्त क्रान्ति में विश्वास करते हैं।

सामाजिक और वैयक्तिक

सामाजिक जीवन सुविधा देता है, दर्शन नहीं। उसमें वर्तमान को बनाये रखने का प्रयत्न होता है भूत और भविष्य का विश्लेषण नहीं। सामाजिक जीवन का विकास अर्थ-व्यवस्था को जन्म देता है और वह राजसत्ता को। तात्पर्य यह है कि अर्थ और सत्ता दोनों सामाजिक हैं। एक की प्रवृत्ति का फल अनेक को मिले और जो हस्तान्तरित हो सके वह वस्तु सामाजिक होती है। अर्थ और सत्ता दोनों ही ऐसी वस्तुएं हैं। धर्म वैयक्तिक है। उसका फल दूसरों को नहीं मिलता और न वह हस्तान्तरित ही हो सकता है। एक हिंसा नहीं करता चोरी नहीं करता यह धर्म है। इसका लाभ दूसरों को भी मिलता है। एक व्यक्ति की अहिंसकता और अनपहरणता जो अहिंसा और अचौर्य के परिणाम हैं, लाभ सबको मिलेगा तब धर्म सामाजिक क्यों नहीं, यह प्रश्न उठ सकता है किन्तु वह वस्तु स्थिति को जटिल नहीं बनाता।

एक व्यक्ति की धर्म साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलता, इसका अभिप्राय वस्तु प्रतिपादन और विनिमय से है। धर्म में प्रतिपादन और विनिमय की वह शक्ति नहीं है जो पैसे में है। इसलिए वह स्वलाभ को प्रसरणशील नहीं बनाता। धर्म का प्रतिपादन पौद्गलिक वस्तुएं नहीं हैं और न दूसरों में वह विनिमित होता है। धर्म तब तक नहीं होता जब तक व्यक्ति स्वयं उसकी साधना न करे। इसलिए वह वैयक्तिक है। अर्थ

सामाजिक होते हुए भी कुछ अंशों तक वैयक्तिक होता है। वैसे ही धर्म वैयक्तिक होने पर भी कुछ अंशों तक सामाजिक है। व्यक्ति की संयम प्रवृत्ति से समाज की आध्यात्मिक स्थिति को प्रेरणा मिलती है और उसकी निवृत्ति से समाज का अनिष्ट नहीं बढ़ता इस प्रकार वह समाज के लिए लाभकारक है इसलिये वह सामाजिक है।

सामाजिक कल्याण के लिये अर्थ और सत्ता ये दोनों आवश्यक माने जाते हैं धर्म क्षेत्र में ये दोनों नहीं हैं इसलिए वह असामाजिक भी है।

धर्म स्वरूपतः सामाजिक नहीं है किन्तु वह समाज की स्थिति को प्रभावित करता है इसलिए अर्थ और सत्ता पर उसका नियन्त्रण होता है।

एक सिद्धांत अर्थ प्राचुर्य का है। उसके विरुद्ध दूसरी विचारधारा अपरिग्रह की है। अपरिग्रह असामाजिक है। समाज परिग्रह के बिना नहीं चलता।

परिग्रह का एकाधिपत्य भी असामाजिक है। अधिक संग्रह के लिये लोग क्रूर बनते हैं और अधिक संग्रह से समाज में विलास आता है वैषम्य फैलता है क्रूरता बढ़ती है।

सामाजिक प्राणियों के लिए एक तीसरे मार्ग की खोज हुई, वह न परिग्रह का है न अपरिग्रह का। वह है इच्छा परिमाण या परिग्रह का सीमाकरण। इसी मध्यम मार्ग का नाम है 'अणुव्रत'।

विलास जीवन में शिथिलता लाता है। इसके लिए अधिक संग्रह आवश्यक होता है। विलासी स्वयं श्रम नहीं करता इसलिए उसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए दूसरों से श्रम लेना पड़ता है। श्रम का प्रतिदान पैसा है, जो अधिक पैसा खर्च करता है वह दूसरों से अधिक श्रम लेता है। इस तरह दो वर्ग स्वयं बन जाते हैं। एक श्रम लेनेवाला और

दूसरा श्रम लेनेवाला। पैसेके बलपर श्रम लेते-लेते व्यक्ति मूढ़ बन जाता है।

श्रम देनेवाला अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए पैसा कमाता है या उसमें इतनी योग्यता नहीं कि वह शारीरिक श्रम किये बिना पैसा कमा सके। इसलिए वह शारीरिक श्रम देकर पैसा कमाता है और इसीलिए श्रमजीवी बन जाता है। अशिक्षित जनता में बुद्धिजीवी और श्रमजीवी ऐसे दो वर्ग सहज ही बन जाते हैं। शिक्षित दशा में यह स्थिति सघष लाती है। सब के-सब बुद्धिजीवी बन जायें तो क्या खायें, क्या पीयें और कहाँ रहें? सबके-सब श्रमजीवी बन जायें तो मनुष्य के बौद्धिक विकास का द्वार खुला कैसे रहे? इस समस्या पर विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि सबमें बुद्धि-कौशल समान नहीं होता और जिनमें बुद्धि कौशल तुल्य भी होता है, उन्हें भी अवसर समान कहाँ मिलते हैं? समान अवसर पानेवाले भी समान लाभ नहीं उठा सकते। इस स्थिति में दो वर्ग कैसा टूट जाय यह कदापि सम्भव नहीं। सम्भव है, दोनों का समन्वय। बुद्धिजीवी श्रम को नीचा न माने और श्रमजीवी बुद्धि को ऊँचा न समझे फलित भाषामें बुद्धि-जीवी अपना आवश्यक श्रम दूसरों से न ले काम करने में लज्जा का अनुभव न करें उस स्थिति में वे अपरिग्रह की ओर आगे बढ़ सकते हैं। परिग्रहका क्रम है—विलास से बड़प्पन, बड़प्पन से स्वय हाथों से काम करने में लज्जा दूसरों से श्रम श्रम प्रतिपादन के लिए फिर पैसे का अधिक संग्रह अधिक संग्रह के लिए अधिक बुराई, यानी अधिक हिंसा और अधिक झूठ। हिंसा अपने आप अधिक नहीं बनती। असत्य की भी यही बात है। रोग का मूल भोगवृत्ति है। उसके लिए परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा और असत्य का विस्तार होता है। जीवन-परिवर्तन की दिशा भोग विरति है।

२

व्यवस्था-सुधार में वृत्ति-सुधार की अपेक्षा

इच्छा और आवश्यकता की वृद्धि से विकास होता है—यह धारणा मिथ्या ही नहीं, घातक भी है। वैषम्य का जो विकास हुआ है वह उनको निरंकुश छोड़ने का ही परिणाम है। सीमित इच्छायें और सीमित आवश्यकताएं मनुष्य को मूढ़ नहीं बनातीं। असीमित इच्छाओं और असीमित आवश्यकताओं ने युग को वस्तु बहुल बनाकर मनुष्य को रक्त का प्यासा बना डाला है और अब वह सारी सामग्री को अकेला ही निगल जाना चाहता है।

निरंकुश इच्छाएं ही शोषण करती हैं और युद्ध भी जो अभी अभी लड़े गये थे इन्हीं की देन हैं। प्रतिहिंसा से पीड़ित चाहता है पर अशान्ति का मूल जो इच्छा का अनियन्त्रण है,

आश्चर्य है।

शान्ति का

अल्पीकरण से परि

का।

आज की दुनियां में यह मान्य हो चुका है कि अहिंसा का विकास किये बिना विश्व शान्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिए बहुत सारे व्यक्ति अहिंसक बनना भी चाहते हैं पर वे जीवन क्रम को बदलते नहीं। इसीलिए वे अहिंसक बन नहीं पाते। हिंसा की कमी परिग्रह की कमी पर निर्भर है, परिग्रह की कमी भोग की कमी पर। लोग चाहते हैं—भोग विलास जो हैं वे तो चलते ही रहें परिग्रह भी कम न हो और हिंसा भी छूट जाय। कैसा है यह व्यामोह? भोग विरति के बिना जो हिंसा विरति चाहते हैं वे बुराई की जड़ को सींचते हुए भी परिणामों से बचना चाहते हैं। जो हिंसा विरति या अहिंसा का विकास चाहते हैं उन्हें समझ लेना है कि हिंसा के कारणों का त्याग बिना हिंसा का त्यागने का परिणाम केवल दंभ होगा अहिंसा नहीं। इसीलिए आचार्यश्री तुलसी ने अपनी उदात्त वाणी में कहा— जीवन को हलका बनाओ क्योंकि अर्थ के गुरुतम भार से दबा जीवन पवित्र नहीं बन सकता।

जीवन-शुद्धि के लिए अहिंसा के द्वारा जिसका जीवन बदलता है वह न दूसरों से अनावश्यक श्रम लेता है और न किसी का शोषण करता है। निश्चय में अहिंसा बनी है तब व्यवहार में स्वनिर्भरता अपने आप आ जाती है। अथवा यों कहना चाहिए कि व्यवहार में स्व निर्भर रहनेवाला ही अहिंसा का विकास कर सकता है। कोई श्रम करे या न करे इससे अहिंसा का सम्बन्ध नहीं किन्तु दूसरे से श्रम लेने के लिए परिग्रह व परिग्रह के लिए हिंसा, इस तरह हिंसा को बढ़ावा मिलता है। स्वयं श्रम करनेवाले को अधिक परिग्रह की अपेक्षा नहीं होती। अधिक परिग्रह से निरपेक्ष व्यक्ति अधिक हिंसा में नहीं फंसता। इस प्रकार स्व श्रम

हटे। पदार्थ संग्रह में अपना अनिष्ट न दीखे तब तक ममत्व-बुद्धि नहीं मिटती। संग्रह में अनिष्ट की भावना अध्यात्म दृष्टि से मिलती है। उसका आदर्श है—कोई कुछ भी संग्रह न करे। अपने से बाहर की वस्तु को अपनी न माने और न उसे अपने अधिकार में ले। यह कठोर साधना है। इसके लिए जीवन की वृत्तियों का महान् बलिदान चाहिये। ऐसा न कर सकें उनके लिए फिर मध्यम मार्ग है। उसकी दृष्टि है—जीवन निर्वाह की। आवश्यकता से अधिक संग्रह न किया जाय। जितना संग्रह उतना बन्धन—यह व्रत ग्रहण की पूर्व भूमिका है। संग्रह द्वारा इष्ट पूर्ति की कल्पना होती है तब वह साध्य जैसा बन जाता है। आत्म विश्वास की कमी है उससे संग्रह को प्रोत्साहन मिल रहा है। लखपति कोटिपति भी धन कमाने की दौड़ में जुटे रहते हैं। बुढ़ापे में क्या होगा? बाल-बच्चों का क्या होगा? ऐसी आशंकायें उन्हें सताती रहती हैं। आत्म विश्वास उत्पन्न करने के लिए अर्थ व्यवस्था की स्थिरता अपेक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिल जाये और वह योग्यता के अनुरूप मिले ऐसी स्थिति में जीवन की निश्चिन्तता आती है। भावी जीवन और भावी पीढ़ियों की चिन्ता कम होती है संग्रह-वृत्ति शिथिल बन जाती है। ऐसी भूमिका में व्रतों को विकसित होने का सुन्दर अवसर मिलता है। पर स्थिति दूसरी हो है। जहां ऐसी भूमिका है वहां व्रतों की भावना नहीं है और जहां व्रतों की भावना है वहां वैसी भूमिका नहीं है।

गरीबी में अभिलाषा बनी रहती है। अमीरी का दोष है—अतृप्ति। सन्तुष्टि या तृप्ति संतुलन त्याग से उत्पन्न होता है। पहले—वस्तु का त्याग और फिर वासना का त्याग।

त्याग समतावाद है। अपने हित के लिये सब कुछ त्यागें—यह सिद्धान्त जैसा धनी के लिए है वैसा ही गरीब के लिए। गरीबों को त्याग द्वारा दो वस्तुए पानी चाहिये—एक व्यसन मुक्ति, दूसरी इच्छा मुक्ति। धनिकों को उसके द्वारा तीन वस्तुए पानी चाहिये—(१) व्यसन मुक्ति (२) इच्छा मुक्ति (३) अशोषण।

गरीबों को करना चाहिए—बहु भोग, बहु परिग्रह और बहु हिंसा की आकांक्षा का त्याग। धनिकों को करना चाहिए— बहु भोग, बहु-परिग्रह बहु हिंसा और इनकी आकांक्षा का त्याग। समाज का समतावाद सबके लिए समान सुविधा समान भाग और विकास का समान अवसर मिलने का सिद्धान्त है। सुख सुविधा और भोग जहाँ साध्य बनते हैं वहाँ संग्रह और शोषण घुस आते हैं। अणुव्रत आध्यात्मिक समतावाद के साधन हैं। इस क्षेत्र में जीवन का साध्य है—पवित्रता और वस्तु निरपेक्ष आनन्द। सुख-सुविधा और भोग जीवन निर्वाह की प्रक्रिया है। उसमें अधिक आकर्षण और ममकार नहीं होना चाहिए। "मैं जैसे अनुभूतिशील हूँ वैसे दूसरे प्राणी भी अनुभूतिशील हैं"-इसकी मार्मिकता तभी समझी जाती है जब बाहरी पदार्थों से आकर्षण और ममकार टूटता है। ये व्यक्ति को मूढ़ बनाते हैं। मूढ़ व्यक्ति दूसरों की अनुभाविक क्षमता को सही सही नहीं आंक सकता। आध्यात्मिक दृष्टि विशुद्ध दर्शन है। वह अपनी समता का स्वीकार है। अपनी मानसिक स्थिति विषम न हो यही साम्य है। यह अमूढ़ दर्शन है। इसी के आधार पर अणुव्रत-आन्दोलन के स्वरूप आदि का निर्णय किया जा सकता है—

(१) अणुव्रत आन्दोलन का स्वरूप है—स्वनिष्ठता।

(२) अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है—जीवन शुद्धि।

(३) अणुव्रत-आन्दोलन का आदर्श है—चरित्र का उत्कर्ष।

(४) चरित्र अपकर्ष के हेतु—बहु भोग, परिग्रह और बहु हिंसा।

(५) चरित्र उत्कर्ष के हेतु—भोग-अल्पता परिग्रह-अल्पता और हिंसा अल्पता।

(६) आदर्श प्राप्ति के साधन—अणुव्रत।

हिंसा असत्य चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, ये पांच दोष हैं। इन में मूल दोष हिंसा है। उसकी वृत्ति विविध संयोगों में विविधमुखी बन जाती है। असत्य और चोरी ये दोनों देह की अपेक्षायें नहीं हैं। इसलिए ये वैदेहिक हैं। मुख्य वृत्या सामाजिक स्थिति सापेक्ष हैं। सामाजिक जीवन में जैसे यश सम्मान स्नेह की प्रवृत्तियां उभरती हैं वैसे ही विरोध कलह निंदा, चुगली, दोषारोपण और भय की वृत्तियां भी प्रबल बनती हैं। इन वृत्तियों का निमित्त पा हिंसा का बीज असत्य के रूप में फूट पड़ता है। असत्य मन असत्य वाणी और असत्य चेष्टा मनुष्य में आ जाता है फिर वह असत् के सत्करण और सत् के असत्करण में लग जाता है। संक्षेप में असत्य के चार कारण बतलाये हैं—

(१) क्रोध (२) लोभ (३) भय (४) हास्य-कुतूहल

क्रोध के आवेश में आकर व्यक्ति यथार्थता को बदल देता है। यथार्थ का निरूपण इच्छा पूर्ति में बाधक बनता है तब अन्यथा निरूपण का भाव बनता है। इसी प्रकार अनिष्ट की आशंका और हंसी मजाक भी असत्य की इमारत है।

प्रतिष्ठा बड़प्पन पदार्थ का आकर्षण और अतृप्ति ये चोरी के निमित्त

बनते हैं। अकेलेपन में प्रतिष्ठा या बड़प्पन के भाव पैदा ही नहीं होते। यह पर-सापेक्ष-वृत्ति है। पदार्थ के प्रति आकर्षण अकेलेपन में भी होता है किन्तु वहाँ वस्तु का उपभोक्ता दूसरा नहीं होता इसलिए उसे चुराने की वृत्ति नहीं जागती। जो स्थिति पदार्थ के आकर्षण की है वही अतृप्ति की है। अतृप्त या असन्तुष्ट व्यक्ति का वस्तु-संग्रह आवश्यकता निर्भर नहीं होता। वह केवल लालसा निर्भर होता है इसलिए असन्तुष्ट व्यक्ति आवश्यकता के बिना भी दूसरे की वस्तु चुरा लेता है। इस प्रकार असत्य और चोरी ये दोनों परिस्थिति सहचरित अपेक्षाएं हैं। तात्पर्य की भाषा में बुराई का बीज व्यक्ति की अपनी अशुद्धि है। सामाजिक परिस्थिति का निमित्त पाकर वह अनेक रूप बन जाती है। हिंसा ही निमित्त भेद से असत्य और चोरी का रूप ले लेती है।

वैयक्तिक स्थितियां या दैहिक अपेक्षायें दो कोटि की हैं—देह प्रधान और मानस प्रधान। भूख प्यास आदि देह प्रधान अपेक्षायें हैं और वासना-अब्रह्मचर्य, सुख दुख आदि मानस प्रधान। अब्रह्मचर्य दैहिक है फिर भी बाहरी निमित्त से उत्तेजित होता है इसलिए परिस्थिति सापेक्ष भी है। परिग्रह कुछ अंशों में दैहिक है, कुछ अंशों में वदेहिक और बाहरी स्थिति सापेक्ष है। खान पान भी परिग्रह है इस दृष्टि से वह दैहिक भी है। परिग्रह के अधिक संचय का निमित्त सामाजिक परिकल्पना है, इस दृष्टि से वह वदेहिक भी है। व्यक्ति का मापदण्ड धन बन जाता है जिसके पास धन थोड़ा वह छोटा और जिसके पास धन बहुत वह बड़ा—ऐसी परिकल्पना आ जाती है परिग्रह के संचय का निमित्त बदल फिर वह जीवन निर्वाह का साधन न रहकर विलास

साधन बन जाता है। निमित्त परिवर्तन का सिद्धान्त व्यापक है। प्रत्येक कार्य की प्रारम्भ दशा का निमित्त आगे चलकर उसी रूप में नहीं रहता। वस्त्र के निमित्त-परिवर्तन की स्थिति देखिए, शीत और गरमी से बचाव करने के लिए वस्त्र परिधान चला। कुछ समय बाद दैहिक अपेक्षा जो थी वह काल्पनिक बन गइ। दूसरा निमित्त बना लज्जा-संरक्षण। लाज रक्षा का विकास होते होते सारा तन कपड़ों से ढक गया। इससे आगे विकार-आवरण भी एक निमित्त बना। शोभा अभिमान और स्पर्धा, ये भी निमित्त बन चुके हैं। वस्त्र-परिधान की जो उपयोगिता थी उसे सौन्दर्य और स्पर्धा ने रौंद डाला।

समाज की धुरी अर्थ नीति है इसमें कोइ संदेह नहीं। अर्थ नीति के आधार पर समाज बनता बिगड़ता है। उसकी अच्छाइ और बुराइ के आधार पर वह अच्छा और बुरा बनता है। समाज की अर्थ-नीति श्रम निष्ठ स्वावलम्बी और आत्म निर्भर होती है तब समाज भी अपने श्रम पर भरोसा करनेवाला और अपरिग्रह की ओर आगे बढ़नेवाला होता है। अर्थ नीति शोषण पर आधारित होती है, अशिक्षित और शक्तिहीन वर्ग के श्रम का अनुचित लाभ उठाने की होती है तब समाज विलासी आलसी और संग्रहनिष्ठ बनता है। समाजवाद अर्थ नीति को सब साधारण उपयोगी यानी शोषण हीन बनाने की प्रवृत्ति में संलग्न है। वैसा कुछ बनता सा दीख रहा है। फिर भी वह सत्ता और भय पर आश्रित है। अपरिग्रह का सिद्धान्त आत्माश्रित है। वह हृदय में उतर आये तो सत्ता के दबाव के बिना ही समाज शोषणहीन बन जाए। पर जैसे जाति के आधार पर छोटा बड़ा होने की मान्यता मिटे बिना जातिवाद नहीं मिटने

वाला है वैसे ही धन राशि प्रतिष्ठा, बड़प्पन, विश्वास और सुविधातिरेक का साधन बनी रहेगी, उस स्थिति में न अपरिग्रह वृत्ति जीवन में आने वाला है और न धन का आकर्षण छूटने वाला है। व्यवस्था-सुधार समाजवादी योजना का फलित है। अपरिग्रह के सिद्धांत का फलित है वृत्तियों का सुधार। वृत्तियों के सुधार के लिये व्यवस्था-सुधार की अपेक्षा रहती है और व्यवस्था-सुधार का परिणाम वृत्ति-सुधार या हृदय-परिवर्तन होना चाहिये। इस भूमिका में दोनों के साध्य एक न होने पर किंचित् सापेक्ष बन जाते हैं। सुधरी हुई व्यवस्था के बिना वृत्तियों के सुधरने में कठिनाई आती है। इसलिये साधारणतया (विशेष जागरूक व्यक्तियों को छोड़ कर) वृत्ति-सुधार को शोषण हीन व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। वृत्ति-सुधार हुए बिना व्यवस्था-सुधार टिकाऊ नहीं बनता। इसलिये व्यवस्था सुधार को वृत्ति-सुधार की अपेक्षा रहती है।

आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन रहे तब अणुव्रतों की कल्पना सफल नहीं हो सकती। अणुव्रती अणुव्रतों का पालन भी करे और जीवन को आर्थिक भार से बोझिल भी बनाये रखे ऐसा बनना सम्भव नहीं। विलासी जीवन में धन चमकता है। सादगीपूर्ण जीवन में व्रत चमकते हैं। धन और व्रत, दोनों एक साथ नहीं चमक सकते। न्याय साधनों द्वारा जीवन निर्वाह उपयोगी धन मिल जाता है किन्तु आडम्बर और विलास योग्य धन नहीं मिलता। विलास के लिए धन का अतिरेक और उसके लिए अन्यायपूर्ण तरीकों का अवलम्बन ऐसा होता है व्रत टूट जाते हैं। इसलिए अणुव्रती को जीवन-व्यवस्था का चालू क्रम बदलना पड़ता है। ऐसा किए बिना वह व्रत और विलास दोनों के साथ भी न्याय नहीं कर सकता।

न वह सफल धनी बन सकता और न सफल विलासी भी रह सकता है। इस पर से अणुव्रती के लिए जीवन-व्यवस्था के परिवर्तन की बात आती है। शोषणहीन समाज-व्यवस्था में उसे कोई कठिनाई नहीं किन्तु समाज-व्यवस्था वैसी न बनने पर भी कम से कम उसे तो अपना जीवन क्रम बदलना ही होगा। धन के द्वारा बड़ा बनने की भावना दूसरों से अधिक सुविधा पाने की भावना दूसरों के श्रम द्वारा अनुचित लाभ कमाने की भावना, शोषण और अवैध तरीकों द्वारा धनार्जन की भावना छोड़ देना उसका सहज धर्म हो जाता है। अणुव्रत विचार का लक्ष्य है—व्यक्ति-व्यक्ति में सहज धर्म का विवेक जगाना, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा बुराइयों से बचे बचने का उपाय करे धनी बने वैसी भावना पैदा करना।

—*०*—

३

निर्माण की दिशा में व्रतों का महत्त्व

परिस्थितिवाद को लेकर दो धारायें चल पड़ी हैं। कोई कहते हैं—आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाहरी व्यवस्था का सुधार नितान्त आवश्यक है। कई यों सोचते हैं—जटिल परिस्थितियों में भी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। इन दोनों में भी सचाई के अंश हैं। सामान्य शक्तिवाले व्यक्ति जटिल स्थितियों से लड़ नहीं सकते। उन्हें सरल स्थिति की अपेक्षा रहता है। उसी में वे कुछ भले रह सकते हैं। विशिष्ट शक्तिवाले व्यक्ति बाहरी व्यवस्था को लांघकर आगे बढ़ जाते हैं। वे बाहरी स्थिति के गुलाम नहीं होते।

अणुव्रत आन्दोलन आध्यात्मिक चारित्रिक या नैतिक गति का प्रेरक है। इसके पास आर्थिक सुधार या विकास की कोई योजना नहीं है। इसके पास एकमात्र योजना यही है कि मनुष्य हर स्थिति में मनुष्य रहे। अच्छी स्थिति में मनुष्य मनुष्य रहे और बुरी स्थिति में वह मनुष्य भी न रहे यह मनुष्यता नहीं परिस्थिति की गुलामी है। व्रत निष्ठा का तात्पर्य है—मनुष्य परिस्थिति का विजेता बने। बुरी परिस्थिति में मनुष्य सत्य

निष्ठ नहीं रह सकता—अणुव्रत दृष्टि में यह मान्य नहीं है। स्थिति के अनुसार बुरा भला बनने की वृत्ति परतन्त्रता की भावना है। मनुष्य ने कष्ट सहिष्णुता का विकास नहीं किया इसलिए वह कष्टों से घबरा परिस्थिति के सामने घुटने टेक देता है। अणुव्रती अहिंसा निष्ठ होता है। अहिंसा निष्ठ कष्ट सहिष्णु होता है। वह स्थिति के सामने झुकता नहीं, उसे सहन किये चलता है। भावना की हीनता के कारण मनुष्य में तितिक्षा की कमी हुई है। अणुव्रत-आन्दोलन की अपेक्षा है—मनुष्य को उसकी शक्ति का भान हो। धारणा में परिवर्तन होने पर सुख-सुविधा की अपेक्षा चरित्र का मूल्य बढ़ जायेगा। चरित्र को खोकर सुख-सुविधा पाने की वृत्ति टूटने पर मनुष्य को नीचे जाने की बात ही नहीं सूझेगी।

जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं की उपेक्षा हो, ऐसी दृष्टि अणुव्रत-आन्दोलन की नहीं है। इसकी दृष्टि है—सुख-सुविधा पाने के साधन दोषपूर्ण न हों, कभी न हों किसी भी स्थिति में न हों।

अपरिग्रह का मार्ग

परिग्रह मनुष्य की मान्यता है। वस्तु का मूल्य और वस्तु के द्वारा सुख होने का विचार भी उसकी मान्यता है। आवश्यकता की जो पूर्ति है वह सुख या असुख कुछ भी नहीं है। उससे आगे जो सुख की कल्पना है वह मानसिक मान्यता है। पदार्थ न परिग्रह है न बन्धनकारक और न दुखदायी। हमारी इच्छा उससे जुड़ती है तभी वह परिग्रह बन्धनकारक और दुखदायी बनता है। वस्तु स्थिति में परिग्रह इच्छा ही है। वह मनुष्य की अपनी स्थिति है। वह बाहरी पदार्थों से सम्बद्ध होकर उन्हें भी परिग्रह बना डालती है। फिर इच्छा प्राचुर्य से अर्थ प्राचुर्य और अर्थ

प्राचुर्य से इच्छा-प्राचुर्य इस प्रकार दोनों की कड़ी जुड़ जाती है। समाजवाद के अनुसार अर्थ प्राचुर्य से कल्याण माना जाता है। यह अर्थ प्रचुरता का दर्शन है। सन्त-दृष्टि ऐसी नहीं है। इच्छा-प्राचुर्य दोनों को मान्य नहीं है। व्यक्ति की इच्छा का नियन्त्रण दोनों चाहते हैं। अधिक इच्छा और अधिक संग्रह से व्यक्ति अधिक नीचे गिरता है इसलिए सन्त की दृष्टि है—व्यक्ति इच्छा और संग्रह पर नियन्त्रण करे। समाज दृष्टि व्यक्तिगत अधिक संग्रह को इसलिए बुरा मानती है कि उससे समाज में शोषण बढ़ता है, अनीति प्रबल होती है। समाजवाद ऐसी स्थितियों का निर्माण चाहता है जिससे कोई भी व्यक्ति अधिक संग्रह कर ही न सके। सन्त की भावना यह है कि कोई भी व्यक्ति अधिक परिग्रही न बने ऐसा विवेक उसमें जाग जाय। यह विवेक जागरण ही अपरिग्रह का मार्ग है।

कष्ट की राह या शान्ति की ?

पूंजीपति और गरीबों के हित परस्पर विरोधी हैं। इनके समन्वय के दो मार्ग हैं—एक कानून का दूसरा आत्म-बल का। यह सब जानते हैं—अधिकार जागरण के युग में विपुल वैषम्य टिकनेवाला नहीं है। वह मिटेगा यह निश्चित जैसा है। पर कैसे मिटेगा? यह प्रश्न कई राष्ट्रों के लिये अति महत्व का है। भारत के लिये और भी विशेष है। वह कानून के द्वारा मिटता है या संयम के द्वारा, यह देखना है। धन से मोह छूटता नहीं कानून अतिरिक्त धन छोड़ने के लिये बाध्य करता है तब कष्ट होता है। संयम धन का महत्व छूटने से आता है, वैसी स्थिति में धन-संग्रह न रहने पर भी कष्ट नहीं होता। जनता कष्ट को मोल लेना चाहेगी या शांति को? इसका निर्णय अभी हुआ नहीं है। पूंजीवाद के अनिष्ट परिणामों

बेकारी, दरिद्रता, भुखमरी आदि को समझकर लोग समाजवाद की ओर झुक गये। वैसे ही पूंजी के अनिष्ट परिणामों—मोह, लालच, अनीति आदि-आदि को लोगों ने नहीं समझा। अब उसी को समझने और समझाने का प्रयत्न करना होगा।

आकर्षण कैसे छूटे ?

पूंजी वस्तु विनिमय का साधन है। उसमें फलदान की शक्ति है। पैसा लेकर जाता है वह बाजार से मनचाही वस्तु ले आता है। अपरिग्रह स्वीकार कर बाजार में जाये तो उसे साग के लिये एक ककड़ी भी नहीं मिलती। दिनचर्या के अधिक अंग पूंजी से पूरे बनते हैं। ऋतुचर्या के अंग भी वैसे ही हैं। रोटी कपड़ा मकान, दवा व छोटी बड़ी सभी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। उसकी पूर्ति पैसे से होती है। इसलिए वह सहजतया बिना कहे-सुने और प्रचार किये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। अपरिग्रह के लिए प्रचार चलता है, अपरिग्रही बनने की सीख दी जाती है फिर भी उसके लिये पर्याप्त मात्रा में आकर्षण पैदा नहीं होता। सही अर्थ में थोड़े आदमी विश्वास करते हैं—अपरिग्रह मन अच्छा है। बहुतों का विश्वास परिग्रह में है। अपरिग्रह मन है इसलिए वह साधना सापेक्ष है। इस हाथ से दिया उस हाथ से लिया—ऐसी तात्कालिक फलदान शक्ति उसमें नहीं है और उसका फलदान भी पदार्थपरक नहीं है। उसका फल है—वृत्तियों का सुधार, आन्तरिक आनन्द। बहुत लोग इस गहरे दर्शन तक जाने को डग भरना भी नहीं जानते इसलिए वहां जाना भी नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में पैसे का आकर्षण एकतन्त्र हो जाता है।

मूल्यांकन की दृष्टि

मनुष्य का मूल्य पैसे से आंका जाता है। पैसेवाला निगुण भी सब कुछ और निधन सगुण भी कुछ नहीं—प्रायः ऐसी स्थिति है। विद्वान् और कलाकार, शिल्पी और कुशलकर्मी इन सबको पैसेवाले का द्वार खट खटाना होता है। तात्पर्य की भाषा में—विद्या, कला, शिल्प ये सब पैसे के सामने झुकते हैं इसलिये वह सर्वोपरि सम्मान पा रहा है। इस स्थिति में वह सबकी दृष्टि सहसा अपनी ओर खींच लेता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

भूल-सुधार

पैसे के प्रति आकर्षण होने की दो मुख्य बातें बताई गई हैं उनके बारे में हमें शुद्ध दृष्टि से विचार करना है। जहाँ जीवन है वहाँ उसके निर्वाह की आवश्यकतायें भी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह भी सच है— आवश्यकता-पूर्ति के लिये पदार्थ और पदार्थ प्राप्ति के लिये पैसा या उस जैसा दूसरा कोई भी साधन आवश्यक है। किन्तु यहाँ एक तथ्य समझना और शेष रह जाता है। वह यह है कि मनुष्य जितना कार्य आवश्यकतावश नहीं करता उतना वृत्तिवश करता है। प्रत्येक वृत्ति में वासना-पूर्ति की भावना होती है। व व्यक्ति में कृत्रिम आवश्यकता पैदा करती हैं। उनसे शुद्ध आवश्यकताओं पर परदा गिर जाता है। मनुष्य नहीं समझ पाता—क्या आवश्यक है और क्या काल्पनिक? शुद्ध आवश्यकतावश व्यक्ति बहुत थोड़ा कार्य करता है। अधिकांश कार्यों के पीछे वृत्ति की ही प्रेरणा होती है। अनगिनत मिठाइयां खाई जाती हैं उनका हेतु भूख शान्ति है या स्वाद वृत्ति? एक आदमी अपने रहने के लिये दो चार

मकान या महल बना लेता है। यह क्या है? आवश्यकता है या एशो आराम की वृत्ति? क्या सभी कपड़े आवश्यकता के लिये पहने जाते हैं? करोड़ों की पूंजी क्या आवश्यक होती है? इसी प्रकार एक ओर आमोद प्रमोद बोल-चाल जैसे जीवन के साधारण कार्य और दूसरी ओर धन संग्रह जैसे विशेष कार्य ये सभी बहुलतया वृत्ति प्रेरित होते हैं। झूठी भूख या कृत्रिम भूख से आदमी खाता है उससे वासना पूरी होती है, शरीर नहीं बनता। यही बात कृत्रिम आवश्यकताओं की है। उससे प्रेरित हो मनुष्य संग्रह करता है आनन्द नहीं मिलता। पैसे के प्रति जो अधिक या सर्वोपरि आकर्षण है उसका हेतु कृत्रिम आवश्यकता है। यह भटकाने वाली भूल है। चारित्रिक विकास के लिए इसका परिमार्जन करना होगा। शुद्ध आवश्यकता और कृत्रिम आवश्यकता का विवेक जागृत करना होगा। अणुव्रत-दर्शन बतलाता है कि प्रत्येक अणुव्रती कृत्रिम आवश्यकता पैदा करनेवाली वृत्तियों का निग्रह करे।

मूल्य-परिवर्तन की दृष्टि

दूसरी बात है—मूल्य परिवर्तन की। इसके बिना मन विकास में कठिनाइयाँ आती हैं। जहाँ बाहरी पदार्थों के आधार पर व्यक्ति का मूल्य आंका जाता है, वहाँ व्यक्ति पदार्थों के नीचे दब जाता है। व्यक्ति का महत्व धन और पदार्थ के साथ जुड़ा होता है तब चरित्र विकास की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। मूल्यांकन की दृष्टि चरित्र हो तब ही वह व्यापक रूप में सहज स्फुरित हो सकता है। स्वार्थ सम्पादन का ध्येय गौण होने पर ही परमार्थ दृष्टिवाले व्यक्ति पैदा हो सकते हैं। ईमानदारी के प्रति श्रद्धा बढ़ने पर ही ईमानदार पैदा हो सकते हैं। श्रम का मूल्य बढ़ता है। उसमें

श्रम निष्ठा पैदा हुई है। फिर भी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच योग्यता का अनि मात्र तारतम्य है। वह श्रम निष्ठा को व्यापक नहीं बनने देता। अत्यन्त न्यून मात्रा की योग्यतावाला यदि दूसरे के श्रम को अपने ऊपर ओढ़ लेता है। ऐसा करने में उसकी स्वार्थहीन बुद्धि नहीं है किन्तु वह अपना पेट पालने के लिए ऐसा करता है। जिसे बौद्धिक योग्यता मिली है और जो विलासी है वह प्राय बुद्धिहीन व्यक्तियों के श्रम का अनुचित लाभ उठायेगा। यह बुद्धिकौशल व्यामोह है। वही उसे श्रमनिष्ठ नहीं बनने देता। बौद्धिक योग्यता बढ़ने पर ही श्रम का विक्रय कम हो सकता है। चरित्रनिष्ठ बनने में भी ऐसी बाधायें आती हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो आकांक्षा का तारतम्य है वह चरित्रनिष्ठा को व्यापक नहीं बनने देता। अति आकांक्षावाले धन को अधिक महत्व देते हैं इसलिए धनी को अपने आप अति महत्व मिल जाता है। धनी को जैसे-जैसे अधिक महत्व मिलता है वैसे-वैसे वह और अधिक धनी बनने को ललचाता है। आध्यात्मिक योग्यता बढ़ने पर ही आकांक्षा कम हो सकती है। उसे जगाने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही जीवन के मूल्य बदल सकते हैं।

व्यक्ति निर्माण की दिशा

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति निर्माण की दिशा है। सत्ता से सामूहिक ढांचा बदल जाता है। व्रतों से वैसा नहीं हो पाता। सत्ता बाहरी रूप बदलती है, वह अन्तर को नहीं छूती। व्रत अन्तर को छूते हैं। अन्तर का परिवर्तन आन्तरिक योग्यता पर निर्भर होता है। वह सबकी समान नहीं होती। इसलिए एक साथ वैसा नहीं बनता। इस स्थिति में व्यक्ति निर्माण की बात शेष रहती है। व्यक्ति समाज का अङ्ग है। एक अङ्ग भी

ज्योति पुंज बनता है, उससे समूचे समाज को आलोक मिलता है। अणुव्रत आन्दोलन आध्यात्मिक है। इसकी दिशा सबके साथ चलने की नहीं है। बुराइयाँ कर-कर सब लोग सुख-सुविधायें पा रहे हैं फिर अकेला मैं ही उन्हें छोड़ सुख सुविधाओं से क्यों वंचित रहूँ? जो सबको होगा वही मुझे होगा, यह विचार अनाध्यात्मिक है। व्यक्ति का पतन उसके अपने बुरे कर्म से होता है इसलिए मुझे उससे अवश्य बचना चाहिये यह आध्यात्मिक चिन्तना है। व्यक्ति निर्माण की सही दिशा यही है। आन्दोलन की कल्पना है कि प्रत्येक व्यक्ति—

(१) अभय (२) सहिष्णु (३) समभावी (४) पवित्र (५) सन्तुष्ट (६) शान्त (७) जितेन्द्रिय और (७) आग्रहहीन बनें।

— * * —

७

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

नीति शास्त्र के अनुसार नैतिकता व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है। राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की वृद्धि करना है। ग्रीन महाशय का कथन है कि मनुष्य को 'आत्म-कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चेष्टा करता है वह समाज का सच्चा कल्याण अपने आप ही कर देता है।" (नीति शास्त्र पृ० ८२-८३) ऊपर की पंक्तियाँ व्यक्तिवादी विचारणा की प्रतीक हैं। व्यक्तिवाद स्वार्थ परता है इसलिए वह समाज को नहीं भाता। नैतिकता और व्यवहार की रेखायें दो दिशाओं में चलती हैं। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता आवश्यक है किन्तु राजनीति का आधार वैयक्तिक स्वतंत्रता का समाज के लिये समर्पण है, नीति शास्त्र का ध्येय मनुष्यों को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है और राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीति की दृष्टि बहिर्मुखी होती

और नीति शास्त्र की दृष्टि अन्तर्मुखी। (नीति शास्त्र)

बहिर्मुखी दृष्टि से देखने पर व्यक्तिवाद स्वार्थपरता से अधिक मूल्यवान् नहीं लगता पर सही मात्रा में वह स्वार्थपरायणता नहीं है। वह आत्म निष्ठता है। अपना कल्याण किये बिना दूसरों के कल्याण की बात थोथी होती है। व्यक्तिक कल्याण की मर्यादा को न समझनेवालों से समाज का उत्तम कल्याण नहीं हुआ है। बस व्यक्तियों द्वारा सम्भव है समाज को बाहरी सफलतायें मिलती हों नैतिकता की दृष्टि से वे मूल्यवान् नहीं हैं। नैतिक प्रयत्न द्वारा मनुष्य बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता वरन् आन्तरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है बाह्य सफलता से नहीं। (नीति शास्त्र पृ० १६७)

निःश्रेयस के साथ अभ्युदय आता है। वह दूसरों को घात नहीं पहुंचाता। कोरा अभ्युदय किसी महान् साध्य का प्रासंगिक फल या गौण परिणाम नहीं होता इसलिये वह शुद्धि की मर्यादा का वाहक नहीं रह सकता। समाज समर्पण और परस्परोपग्रह की प्रयोग भूमि है इसलिये वह अभ्युदयवादी है। एक-एक व्यक्ति अभ्युदय और निःश्रेयस् का संगम स्थल होता है। व्यक्ति समाज बन्धन से बिल्कुल मुक्त नहीं होता है तो बिल्कुल बंधा भी नहीं होता। समाज की अपेक्षाओं से वह जुड़ा होता है इसलिए वह अभ्युदयकारी होता है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों के शोधन व नियमन में वह समाज-मुक्त भी होता है इसलिये वह अभ्युदय वादी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति आत्म-नो[illegible] की मर्यादा में व्यक्ति शोधन और सामाजिक अपेक्षाओं की स्थिति में अभ्यु

त्वकरण इन दोनों की सहस्थिति लिए चलता है। यह अभ्युदय और निश्रेयस् का पृथक्करण नहीं किन्तु उनकी मर्यादा का विवेक है। अभ्युदय और निश्रेयस् दो न हों तो फिर उनके द्वैत की कल्पना भी व्यर्थ है। यदि वे दो हैं तो उनके स्वरूप दो होंगे। दो स्वरूपवाली वस्तुओं को एक मानना मति विपर्यय है।

अभ्युदय और निश्रेयस् की आराधना का देशकाल की दृष्टि से बटवारा हुआ। उससे अवश्य ही सम्मोह बढ़ा। अमुक काल और अमुक क्षेत्र धर्म या निश्रेयस् की आराधना का है और अमुक देश, काल अभ्युदय या व्यवहार की आराधना का, इस प्रकार निश्रेयस् और अभ्युदय की साधना का बटवारा हुआ वह उचित नहीं। किन्तु इनके स्वरूप का स्वयजात पार्थक्य है, वह अकृत्रिम है, इसलिए वह अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक कार्य निश्रेयस् के लिए हो यह स्थिति साधना के उत्कर्ष की है। इससे पहले सबकी सब क्रिया निश्रेयस् के लिये नहीं होती। स्वजाति, समाज, राष्ट्र अपर राष्ट्र के अभ्युदय के लिए निश्रेयस् से मेल न खानेवाली भी बहुत सारी प्रवृत्तियां होती हैं उन्हें निश्रेयस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निश्रेयस् और अभ्युदय का स्वरूप भेद साधना भेद परिणाम भेद स्वयं सत्कार है। निश्रेयस् की व्याख्या में 'जहां तक किसी प्रकार का आचरण इस निश्रेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है वहां तक आचरण को भला कहा जाता है।' (नीति शास्त्र पृ० १६८) 'जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश में आता है वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।' (नीति शास्त्र पृ० १६८) 'अभ्युदय के मार्ग में भलाइ

बुराई की परिभाषा समाज की उपयोगिता अनुपयोगिता से जुड़ी हुई होती है और वहाँ राग द्वेष का मर्यादित आचरण भी निन्दनीय नहीं समझा जाता।

अभ्युदयवाद का आधार सुखवाद (स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के) और सुखवाद का आधार जड़वाद है। मौत प्राणी की पूर्ण समाप्ति है। यह जड़वाद की पूर्व मान्यता है। इसलिए उसमें जीवन और उसके आधारभूत तत्व शरीर का सर्वोपरि महत्व है, निश्रेयस् साधना में जीवन और शरीर का महत्व नहीं वहाँ उनके नियमन-संयम का महत्व है, जीवन क्षण भंगुर और शरीर असार है, उसमें स्थिरता का अंश और सार मात्र इतना ही है कि जितना वह निश्रेयस् का साधन बने। इसलिए अणुव्रत का घोष है—"संयम खलु जीवनम्" संयम ही जीवन है, जीना संयम नहीं है, निश्रेयस् की विचारणा में वस्तुतः जो संयम है वही जीवन है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद मन का आधार नहीं बन सकता। सुख मिले, दुःख न हो जीवन बना रहे, मौत न हो—यह प्राणीमात्र की स्वाभाविक मनोवृत्ति है। सुखैषणा और प्राणैषणा से प्रेरित हो वे सुख-सुविधा के साधन जुटाते हैं। सुख-सुविधा में कहीं खलल न पड़ जाय—यह वृत्ति आगे बढ़ती है। उससे संग्रह का भाव आता है। वह मन के बाँध को तोड़ डालता है। फिर आवश्यकता की बात गौण हो जाती है। सिर्फ संग्रह के लिए संग्रह प्रधान बन जाता है। दूसरों के शोषण, उत्पीड़न दमन आदि सभी कुचेष्टाओं के पीछे यही मनोवृत्ति होती है। सुख पाने और दुःख से बचने की वृत्ति "मनो

वैज्ञानिक सुखवाद" कहा जाता है। नीति शास्त्र की दृष्टि से इसे समाजवाद कहना चाहिए। अभ्युदय में सुख की कामना छूटती नहीं इसलिए सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दुःख देकर सुख पाने और दूसरों को मार कर जीने की वृत्ति बुरी है यह माना गया। निश्चयस् आनन्दमय है। आनन्द चरित्र का उदात्तीकरण है। सुख पौद्गलिक तृप्ति या पूर्ति है। इसलिए वैदिक जगत् में आनन्दानुभूति के लिए सुख की कामना को बुरा माना गया शरीर धारण और जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य अपेक्षाओं को पूरा करना सुखवाद नहीं है। वह आवश्यकता की पूर्ति है। जीवन निर्वाह की दो प्रधान जरूरतें हैं—कपड़ा और रोटी। रोटी जैसे शरीर की सहज मांग है वैसे कपड़ा उसकी सहज अपेक्षा नहीं है फिर भी लज्जा का संस्कार समाज में इतना प्रधान बन गया कि कपड़ा पहला जरूरत बन गया। रोटी के बिना कई दिन काम चल सकता है पर कपड़े के बिना एक घंटा भी काम नहीं चलता। रोटी की खोज में आदमी तभी जा सकता है जबकि कपड़ा पहने हुए हो। भावना का अतिरेक भी हुआ है। बम्बई की बात है—एक दिन मैंने एक भाई से पूछा इस टाइ का क्या उपयोग है? उत्तर मिला—कुछ भी नहीं—मैंने कहा फिर इसका प्रयोग क्यों? उत्तर मिला—एक दिन इसे बांधे बिना आफिस में चला गया तो अधिकारी ने कहा—टाइ न बांधना हो तो नौकरी छोड़ दो। जो कपड़ा अपने आदि काल में लज्जा शीत ताप आदि का त्राण बना वह विकास पाते-पाते भावना का त्राण बन गया। यह अनन्य प्रयोग है। अब प्रयोग की दृष्टि से समाज के संस्कारानुसार वह जीवन की पहली जरूरत है, इसमें कोई दो मत नहीं। दूसरी जरूरत रोटी

है, तीसरी अपेक्षा है—घर। ये अपेक्षायें अपेक्षामात्र रहती हैं तब तक व्यक्ति इन्हें पूरी करता चला जाता है। किन्तु जब इनकी पूर्ति में सुख साधना, आराम और विलास का विशाल भाव जुड़ जाता है, तब ये अपेक्षाएं गौण बन जाती हैं और सुख साधना मुख्य बन जाती है। यह है सुखवाद। इसकी दिशा में सहज तृप्ति मिट जाती है। अतृप्ति का तांता सा लग जाता है। उपाध्याय विनय विजयजी ने सुखवाद की परम्परा को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है —

'प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता—
स्तदनुवसनवेश्मालङ्कृतिव्यग्रचित्ता ।
परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान
सततमभिलषन्त स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन ॥

रोटी पानी, कपड़ा घर, आभूषण स्त्री सन्तान प्रिय इन्द्रिय, विषय स्पर्श, रस, गन्ध रूप शब्द—इस प्रकार इच्छा क्रम सतत प्रवाही है। इसमें बहनेवाला व्यक्ति महा हिंसा और महा परिग्रह की दिशा में चला जाता है। इस पर नियन्त्रण जो हो, वही व्रत है। व्रती जीवन में इच्छा नियन्त्रित हो जाती है। केवल जीवन की अपेक्षा शेष रहती है। व्रत के द्वारा जीवन की दिशा बदल जाने पर व्यक्ति हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की ओर चल पड़ता है। जीवन निर्वाह के लिए अल्प हिंसा और अल्प परिग्रह रहता है बाकी की कामनाएं धुल जाती हैं। यही कारण है कि व्रत की भावना में सुख का प्रश्न प्रधान नहीं रहता। वहां मुख्य बात हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की होती है। यही व्रत का आधार है।

— * —

५

अणुव्रती समाज-व्यवस्था

जीवन की आवश्यकतायें नहीं छूटतीं—यह निर्विकल्प है। विकल्प उनके पूर्ति क्रम में होते हैं। पूर्ति की पद्धति सामाजिक होती है। निर्वाह की जिस पद्धति को समाज उचित या अनुचित मानता है उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यतायें होती हैं। इच्छा पर नियन्त्रण सभी समाजों में होता है। यह समाज एकरूपता है। नियन्त्रण का तारतम्य और उसके प्रेरक हेतु सबमें एकरूप नहीं होते। नियन्त्रण के चार प्रकार हैं—(१) भौतिक (२) राजनीतिक (३) सामाजिक (४) नैतिक या आध्यात्मिक। उनके प्रेरक हेतु क्रमश:—प्रकृति भय राज्य भय समाज भय और आत्म-पतन भय हैं। इनमें पहले तीन भय बाहरी और आखिरी आन्तरिक हैं। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला उनके द्वारा दण्ड पाता है। इसलिए दण्ड की आशंका हो वहां उनकी मर्यादा का पालन और जहाँ वह न हो वहां मर्यादा की अवगणना भी हो जाती है। आत्मिक नियन्त्रण दण्ड प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक जागरण है। इसलिए उसमें बाहर भीतर का द्वैध नहीं होता।

प्रकाश या तिमिर, परिषद् या एकान्त में बुराई से बचने की समवृत्ति हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है। यह भय रखनेवाला बाहर की किसी भी शक्ति से नहीं डरता इसलिए सही माने में यह अभय है। अणुव्रती समाज-व्यवस्था में नियन्त्रण का प्रेरक हेतु आत्म-पतन का भय है। उसमें वही व्यवस्था या विधि उचित मानी जाती है जो आत्म पतनकारक नहीं होती। आवश्यकता-पूर्ति का क्रम व्रतों में बाधा डालनेवाला नहीं होता। व्रतों में बाधा वासना से आती है। आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना ही अणुव्रती समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

आवश्यकतायें अधिक रहें वैसी दशा में नैतिक निष्ठा बन नहीं सकती। उसके बिना व्रत केवल औपचारिक हो जाते हैं। इसलिए आवश्यकतायें कम करना भी अणुव्रती-समाज व्यवस्था का लक्ष्य है।

अधिक आवश्यकतायें निवार्हमूलक नहीं होतीं। वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सकने की स्थिति में होती हैं। यह रोग का मूल है। इच्छा पर नियन्त्रण नहीं होता है तब आवश्यकतायें बढ़ती हैं। जब आवश्यकतायें बढ़ती हैं नैतिक निष्ठा कम होती है। नैतिक निष्ठा कम होती है, व्रत औपचारिक बन जाते हैं। औपचारिक व्रतों से वह शान्ति नहीं मिलती जो व्रतों से मिलनी चाहिए। इसलिए अणुव्रती समाज-व्यवस्था का सबसे पहला या प्रधान लक्ष्य है—इच्छा का नियन्त्रण। संक्षेप में— इच्छा नियन्त्रण के द्वारा आवश्यकता का अल्पीकरण और उसके द्वारा आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना अणुव्रती-समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

नया मूल्यांकन-नया आकर्षण

परिस्थिति के मूल्यांकन और आकर्षण की दृष्टि बदले बिना समाज

की स्थिति में मोड़ नहीं आता। इसलिए अणुव्रती समाज की व्यवस्था के मूल्य और आकर्षण नये होने चाहिये। इसमें मूल्यांकन की दृष्टि त्याग और आकर्षण की दृष्टि आत्मिक पवित्रता का संरक्षण और विकास होगी। श्रम के द्वारा मूल्यांकन करने की बात कही जाती है पर अणुव्रत-दृष्टि के अनुसार श्रम आवश्यकता की कोटि का है। वह जीवन की प्राथमिक या अनिवार्य आवश्यकता है, साधना नहीं। इसलिए वह समाज के उत्कर्ष की अपेक्षा बन सकता है मान-दण्ड नहीं। त्याग आवश्यकता की पूर्ति नहीं है वह पवित्रता का आचरण है। इसलिए इसमें मान-दण्ड बनने की क्षमता है। श्रम करे या न करे, कर सके या न कर सके, पर अपवित्रता का त्याग दोनों श्रेणियों के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार कहा जा सकता है—त्याग कोई करे या न करे, कर सके या न कर सके, श्रम तो दोनों के लिए आवश्यक है। इस प्रकार दो स्वतन्त्र विकल्पों से त्याग और श्रम दो स्वतन्त्र प्रतीकों बन जाती हैं। त्याग श्रम नहीं है और श्रम त्याग नहीं है। किन्तु जहाँ श्रम है वहाँ त्याग सरलता से आ सकता है, बढ़ सकता है और जहाँ त्याग है वहाँ श्रम टिक सकता है। भोग प्रधान जीवन में विलास आता है। उससे श्रम की वृत्ति टूट जाती है। असल में श्रम की प्रधानता में त्याग आ भी सकता है और नहीं भी। किन्तु त्याग की प्रधानता (औपचारिक नहीं किन्तु हार्दिक त्याग की प्रधानता) में श्रम अपने आप आयेगा। इस प्रकार अणुव्रती-समाज-व्यवस्था में श्रम नीचा नहीं माना जायेगा। वह जीवन निर्वाह की अनिवार्य अपेक्षा की दृष्टि से देखा जायगा। धनी को सुरक्षा के लिए परावलम्बन यानी विलास की ओर वृत्ति नहीं पनप सकेगी। अधिक धन का साध्य परिणाम विलास

और प्रासंगिक परिणाम परावलम्बन होता है। मन का साध्य-परिणाम पवित्रता और प्रासंगिक परिणाम स्वावलम्बन या श्रम है। पैसे की जगह मूल्यांकन का माध्यम श्रम बने, विलास का आकर्षण छूटकर पवित्रता का आकर्षण बढ़े तभी परावलम्बन का स्थान स्वावलम्बन ले सकता है। इसलिए समाज और विशेषतः भावी पीढ़ी के संस्कारों को प्रारम्भ से ही इस नए मूल्य और आकर्षण की दृष्टि दी जाय, इसका मौलिक प्रयत्न होना ही अपेक्षित है।

जीवन-ध्येय की साधना

जीवन का सर्वोपरि ध्येय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर एक नहीं होता। परमात्म पद, मोक्ष या चरम विकास की ओर जीवन की सहज गति है—ऐसा एक अभिमत है। दूसरा अभिमत इतना आगे नहीं जाता। वह इसी जीवन की समाप्ति का विकास का अन्तिम चरण मानता है। इस प्रकार सर्वोपरि ध्येय के बारे में एक मत नहीं दीखता। अणुव्रत आन्दोलन सर्व साधारण है। पवित्रता का आखिरी मंजिल को कोई माने या न माने वहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न करे या न करे किन्तु पवित्रता की पहली मंजिल सबके लिये समान है। उसके ध्येय में भले ही थोड़ा बहुत अन्तर हो परन्तु न्यूनतम पवित्रता की भावना में द्वैध नहीं हो सकता। अणुव्रत की साधना जीवन-पवित्रता की पहली मंजिल है। पर उसकी दृष्टि वहीं तक सीमित नहीं है वह और आगे बढ़ती है। अन्याय अनुचित हिंसा उत्पीड़न और शोषण आदि अनुचित साधनों के द्वारा धन का संग्रह न करने की बात पवित्रता का पहला चरण है। अणुव्रत दृष्टि का दूसरा चरण न्याय के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना

है। अधिक संग्रह के रहते हुए पवित्रता बढ नहीं सकती, शान्ति का रूप ऐ नहीं सकती इसलिए उचित साधनों के द्वारा भी पदार्थ का अधिक संग्रह न करना इसका दूसरा अंग है। इस प्रकार इसका क्रम सीमित बनते-बनते जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की रेखाओं तक पहुंच जाता है। यहाँ वासना की तीव्र आकांक्षा धुल जाती है, आवश्यकता की मंद आकांक्षा शेष रहती है। यहाँ जीवन ध्येय की साधना भी सफल बन जाती है। आत्मिक ध्येय की साधना जो जीवनान्तर में भी सक्रान्त होती है, में आवश्यकता की मंद आकांक्षा भी नहीं होनी चाहिये। जीवन ध्येय आत्मिक ध्येय की गहराइ तक नहीं पहुंचता। जीवन ध्येय की साधना शरीर, वाणी और मन की तीव्र आसक्ति मिटा, उन्हें पवित्र करने की है। आत्मिक ध्येय की साधना शरीर, वाणी और मन को मिटा देने की है। जीवन के पवित्रीकरण की साधना आत्मा के पवित्रीकरण की साधना का ही स्थूल अंश है इसलिये इसकी आराधना सूक्ष्म तक पहुँचनेवालों के लिये पहले सोपान के रूप में और सूक्ष्म की चर्चा में न जानेवालों के लिये निर्विकल्प रूप में हो—यह आवश्यक है।

— * *::—

६

अन्तर के आलोक में हमारी जीवन दिशा

समाज और राज्य की परिचालिका नीति बाहरी प्रकाश है। वह देश काल और स्थिति की उपज होती है। उसके अनुसार कोई भी कार्य बुरा या भला ही नहीं होता किन्तु बुरा या भला भी होता है। अध्यात्म दृष्टि या चरित्र निर्मापिका दृष्टि अन्तर का आलोक है। वह शाश्वत सत्य है, उसमें देश काल की अस्थिरता नहीं होती। नीति का आधार सद्व्यवहार और समाज की भलाई है। अध्यात्म का आधार अन्तर शोधन और आत्मा की भलाई है। अध्यात्म जड़ है नीति उसकी शाखा। जड़ के बिना शाखा का स्थायित्व नहीं होता, अध्यात्महीन नीति थोड़े में लड़खड़ा जाती है। इसलिये उसे अध्यात्म का अवलम्ब देना ही चाहिये। इसमें एक दार्शनिक कठिनाई भी है। नीति का विचार सर्वसाधारण है पर अध्यात्म विचार सर्व-सम्मत नहीं है। आत्मा, अमरत्व पुनर्जन्म अपने किये कर्मों का अवश्य भोग परमात्म पद ये अध्यात्मवाद की मूल मान्यताएं हैं। अनात्मवादी को ये स्वीकार नहीं होतीं इसलिये दोनों के चरित्र का मापदण्ड अन्त तक एक नहीं होता। नीति सामाजिक जीवन की उपयोगिता

है, इस दृष्टि से वह आत्मवादी को भी मान्य होती है पर [illegible] नीतिवादी को मान्य नहीं होता अतएव समाज की भूमिका में पर [illegible] चलनेवाले चरित्र का मूल्य आंकने की दृष्टि उसमें नहीं होती। [illegible] समस्या का समाधान है। उसका विचार न नीति है और न [illegible] हुआ है। उसका आधार शुद्ध आध्यात्मिकता है, उसकी [illegible] ध्येय आत्म-साधन के द्वारा परमात्मा की ओर प्रयाण है। नीति का [illegible] पालन उससे सहज हो जाता है, इसलिये नीतिवादी और [illegible] के लिये वह समन्वय का मार्ग है।

आज व्यक्ति का जीवन उद्देश्य-शून्य दिशा [illegible] चलना चाहता है पर दिशा नहीं मिल रही है। [illegible] विवेक शक्ति है पर जीवन की सही दिशा ढूंढने में या [illegible] है या उसे ढूंढने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। कुछ तो है [illegible] रहा है। इसीके परिणामस्वरूप पूँजी का मोह आवश्य[illegible] उपार्जन हो रहा है। पूँजी का अर्जन कितना और [illegible] और साधन की मर्यादा का विवेक नहीं रहा है। [illegible] और निकृष्टतम स्थानों से धन कमाने में मनुष्य [illegible] है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन बोझिल बन रहा है [illegible] खड़े हो रहे हैं।

पदार्थ परक विकास जीवन में शान्ति [illegible] और [illegible] लोक प्रतिष्ठा का पथ है वह भी बलवान बनेगा [illegible] इसमें विशेष रूप से वैज्ञानिक और शिक्षित [illegible] यों कहना चाहिये कि वह जगत् ही उस मान्यता [illegible] है।

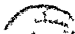
दूसरी मान्यता संयम विकास या प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास की है। उसकी ध्वनि है—आवश्यकताओं पर नियन्त्रण करो, अपना संयम करो वृत्तियों का प्रनिरोध करो, वस्तुओं का अतिमात्र उपयोग मत करो।

दोनों भिन्न दिशायें हैं। चौराहे पर खड़े व्यक्ति को निर्वाचन करना है, उसे कहाँ और किस रास्ते से जाना है? पदार्थ विकास ने जगत् को अशान्त और विषम बना रखा है यह प्रकाश की भाँति स्पष्ट है। फिर भी इच्छा का अल्पीकरण और वस्तु का सीमाकरण अच्छा नहीं लग रहा है। विलास और बड़प्पन की वृत्ति संयम की बाधक बनी हुई है। यह भोगवाद की परिस्थिति है। इसके निर्माण के दो हेतु हैं—(१) व्यक्ति की आत्मिक कमजोरी, और (२) व्रत पालन के अनुरूप भूमिका का अभाव। राष्ट्र समाज और परिवार का वातावरण व्रत के अनुरूप नहीं होता तबतक व्यक्ति को व्रत पालन की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। जीवन निर्वाह की अनिश्चितता, प्रतिष्ठा और भोग विलास की तीव्र भावना से धन के अतिमात्र संग्रह की वृत्ति पुष्ट होती है। निर्वाह की चिन्ता का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था से है। भोग विलास की तीव्र भावना का सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी भावना से है। समाज की व्यवस्था उत्तरदायित्वपूर्ण और प्रतिष्ठा की मान्यता का आधार योग्यता हो तथा व्यक्ति में भोग नियन्त्रण की शक्ति बढ़े तभी सामूहिक रूप से अपरिग्रह की भावना को बल मिल सकता है।

जो श्रम करता है वह छोटा समझा जाता है, उसमें स्वयं ही हीनता की भावना बन जाती है। बड़ा वह है जो ज्यादा धनी है, बड़े मकानों में रहता है भौतिक सुख सुविधा से अधिक सम्पन्न है। भलाई और नीति

[illegible] व्यक्ति छोटा कहलाये, यह उसे अच्छा नहीं लगता, तब वह धन-संग्रह का मार्ग चुनता है। वहाँ सत्य और न्याय की बात गौण बन जाती है या दब जाता है। बड़ा-छोटा बनने का आधार पैसा रहे ऐसी दशा में अपरिग्रह की भूमिका नहीं बनती। पैसे का मोहक आकर्षण मूल्यांकन की दृष्टि को बदल देता है। यह मदिरा से भी अधिक मादक है। इस में आगे के प्रतिदान की शक्ति है इसलिये उसकी ओर सहसा दृष्टि खिंच जाती है। बहुभोग और बहुभोग की पूर्ति के लिये बड़े परिग्रह की बात प्रधान रहे वहाँ मन का ध्येय सफल नहीं हो सकता। इसलिये जो व्रती बनते हैं वे परिग्रह की जड़—भोग-वृत्ति का नियमन करें, श्रम को नीचा और परिग्रह को ऊँचा मानने की भावना को तोड़ें तभी अपरिग्रह और अहिंसा का विचार आगे बढ़ सकता है। अगर ऐसा हुआ तो अवश्य ही श्रम प्रधान या अहिंसा-प्रधान समाज का निर्माण हो सकेगा और अणुव्रती भाई-बहन उस आदर्श समाज के आधार-स्तम्भ और सूत्रधार होंगे।

—::*::—



हैं। उनकी शिक्षा भी तभी आवश्यक होती है जबकि समाज स्व नियन्त्रण की बात भूल जाता है। स्व नियन्त्रण से मिलता कुछ भी नहीं कुछ बनता भी नहीं, किन्तु यह सब अच्छाइयों की जड़ है, इसीलिये इसके अभ्यास की पुनरावृत्ति करनी ही होगी। जिन राष्ट्रों में नैतिकता की ऊँची भावना है उनमें आत्म नियन्त्रण का भाव भी विकसित है। वे कठिन स्थिति को भेलने के लिये अपने पर काबू पा सकते हैं। कठिनाइ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सब पर आती है। निरोधक शक्तिवाले बिना घबराये उसे लांघ जाते हैं और जो निरोधक शक्तिहीन होते हैं वे उसमें डूब मरते हैं। अधिकांश मानसिक रोग और बहुत सारे शारीरिक रोग इसी निरोधक शक्ति की कमी के कारण होते हैं। आत्म हत्याओं का भी यही प्रधान कारण है और भी अनेक बुराइयाँ इसी के अभाव में पनपती हैं। इसलिये अणुव्रत-आन्दोलन ने इस मूलभूत तथ्य को पकड़ा है। उसके लगभग सारे व्रत व्यक्ति को निरोधक-शक्ति की साधना की ओर ले जाते हैं। उनका हार्द मत करो-मत करो इतना ही नहीं है किन्तु "मत करो" इसके पीछे नियन्त्रण शक्ति की विराट साधना जो छिपी हुई है साध्य वह है। अमुक मत करो—यह उसी साधना के सकेत साधन हैं। जो व्यक्ति के सद्विवेक और भलाई की मौलिक वृत्ति का जागरण किये देते हैं। ये व्रत केवल प्रतिरोध शक्ति के विकास की ओर ले जानेवाली दिशाएँ हैं। व्रती बननेवाले इन्हें ही साध्य मानकर न रुकें। आलोचना करनेवाले साध्य के बाहरी रूप में ही न उलझें। दोनों (व्रती और आलोचक) आगे बढ़ें। साध्य की विराट सत्ता को देखें। वहाँ उन्हें वह सत्य दिखाई देगा जो स्पष्ट होते हुए भी आँखों से परे है और जिसका अभ्यास समाज

धारणा राष्ट्र धारणा और मोक्ष धारणा सभी धारणाओं का मूल है। समाज में प्रतिरोध शक्ति कम हुई-हुई है। उसके अभाव में बुराइयाँ अधिक पनपी हुई हैं। इसलिए कुछ मत करो जो करो उसमें अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरा मत करो—यह निषेध मन निष्क्रियता या अकर्मण्यता सा लग रहा है पर यह अकमण्यता नहीं कमण्यता का परिष्कार या शोधन है। एक पावक और दूसरा भी कमण्य हो सकता है और होता भी है किन्तु वह अनियन्त्रित और अपरिष्कृत कमण्यता है। कमण्यता का परिष्कार नियन्त्रण से ही हो सकता है। समाज उसे भुलाये हुए है। इसलिये वह कुछ काम लग रहा है। उसकी भावना भी लम्बा समय ले सकती है, भूलें भी बहुत हो सकती हैं। बुराई भी सहसा नहीं आती। उसका भी क्रमिक विकास होता है। जैसा कि आचार्य श्री ने कहा है—"पहले-पहल बुराई करते सकोच होता है—घृणा होती है। दूसरी बार सकोच होता है। तीसरी बार सकोच मिट जाता है। चौथी बार साहस बढ़ जाता है और फिर वह सहज बन जाती है। यह बुरी प्रवृत्ति का अभ्यास-क्रम है। उसके संस्कार पकने में पीढ़ियाँ गुजर जाती हैं। भलाई के लिये भी यही क्रम है। भले संस्कार दिनों महिनों या वर्षों में ही एकरस नहीं बन जाते। उनके परिणाम और मूल प्रवृत्तियाँ तो और अधिक लम्बा समय लेती हैं। पहले तो सिर्फ समाज के थोड़े आदमी ही आगे आते हैं फिर प्रयत्न होते होते वह समाज-व्यापी बन जाता है, सहज मात्र से आत्मसात् हो जाता है। इसलिये अपरसता की बात आन्दोलन के सामने गौण है। प्रधान बात यह है कि यह शाश्वत सत्य और समाज की मूलभूत अपेक्षा की भित्ति पर खड़ा हुआ है। समाज के साथ

एकरस होने की सम्भावनायें इसमें रही हुई हैं।

निषेधात्मक कर्तव्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं। ज्मन दार्शनिक काण्ट ने मनुष्य के कर्तव्यों को निश्चित क्षण और अनिश्चित क्षण—इस प्रकार दो भागों में बांटा है। जो अनिवार्य आदेश है वह निश्चित क्षण कर्तव्य है। अधिकतर ये कर्तव्य निषेधात्मक होते हैं अर्थात् वे मनुष्य को किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर के कर्तव्य विधेयात्मक हैं। निषेधात्मक कर्तव्य सर्वकालीन और सर्वदेशीय होते हैं और विधेयात्मक इनके विपरीत होते हैं अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं अतएव उन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता। आन्दोलन के व्रत निश्चित कर्तव्य की भूमिका के हैं इसीलिये उनका स्वरूप अधिकतया निषेधात्मक है।

— * * —

८

अनन्त आनन्द का सतत प्रवाही स्रोत

अहिंसा और हिंसा ये दो विरोधी प्रवाह हैं। इनकी धारायें कभी मिलती नहीं। एक जीवन में दो धारायें हो सकती हैं। एक वृत्ति में दोनों नहीं हो सकतीं। अहिंसा आत्मा की स्वाभाविकता और जीवन की उपयोगिता है। *हिंसा जीवन की अनिवार्यता या अशक्यता और आत्म* शक्ति के अल्प विकास की दशा में पनपनेवाली बुराई है।

आत्मा शरीर, वाणी और मन (या आत्मा और शरीर) की सहयोगी स्थिति का नाम जीवन है। इस सहयोगी स्थिति का अधिकारी जो होता है वह व्यक्ति कहलाता है। जीवन स्व (आत्मा) और पर (शरीर, वाणी और मन) का सगम है। व्यक्ति भी स्व-पर के सगम से बनी हुई सत्ता है। जीवन का स्व अश स्वभाव और पर-अश विभाव है। वास्तव में स्वाभिमुखता या स्वरमण है वही अहिंसा है। पराभिमुखता या पदार्थाभिमुखता विभाव विकार या हिंसा है।

स्वभाव का विकास शुरू होते ही विभाव एकदम चला नहीं जाता। स्वभाव की मात्रा कम होती है विभाव सताता है अशान्ति

लाता है। स्वभाव की मात्रा बढ़ती है—मन, वाणी शरीर और पदार्थ के प्रति नियन्त्रण शक्ति बढ़ती है तब विभाव उतना सताता नहीं। फिर जीवन की दिशा और गति स्वयं स्वभावोन्मुख हो जाती है।

अहिंसा विशाल होती है। हिंसा सीमा से परे नहीं हो सकती। एक व्यक्ति क्रूर होकर भी 'सबका हिंसक बन जाये'—उतना क्रूर नहीं होता। उसकी हिंसा की भी एक निश्चित रेखा होती है। वह अपने राष्ट्र, समाज, जाति या कम-से-कम परिवार का शत्रु नहीं होता। वह हर क्षण क्रियात्मक हिंसा नहीं करता। व्यक्ति क्रोध करता है पर क्रोध ही करता रहे—ऐसा नहीं होता। मान, माया और लोभ की परम्परा भी निरन्तर नहीं बढ़ती। क्रोध की मात्रा बढ़ती है व्यक्ति में पागलपन छा जाता है। मान, माया और लोभ की बढ़ी हुई मात्रा भी शान्ति नहीं देती। थोड़े में समझिये हिंसा को सीमित किये बिना व्यक्ति जी नहीं सकता।

अहिंसा विशाल है अनन्त है बन्धन से परे है। कोई समूचे जगत् के प्रति अहिंसक रहे तो रहा जा सकता है। अहिंसा की मात्रा बढ़ती है प्रेम का धरातल ऊँचा और निर्विकार होता है, उससे आनन्द का स्रोत फूट निकलता है।

अहिंसा अनन्त और अनन्त आनन्द का सतत प्रवाही स्रोत है फिर भी मनुष्य का स्वभाव उसमें सहजतया नहीं रमता। इसका कारण नियन्त्रण शक्ति का अभाव है। मन वाणी और शरीर की निरंकुश-वृत्तियों का प्रतिरोधन करने की आत्म शक्ति का जितना कम विकास होता है, उतना ही अधिक हिंसा का वेग बढ़ जाता है। हिंसा की मर्यादायें कृत्रिम

होती हैं। उनमें तड़क भड़क और लुभावनापन भी होता है। अहिंसा में दिखावटीपन या बनावटीपन नहीं होता। वह आन्तरिक मर्यादा है। वह आती है तभी व्यक्ति का व्यक्तित्व—जीवनकी स्वतन्त्रता निखरती है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने एक प्रवचन में कहा—'आत्मानुवर्ती नियमानुवर्ती यानि अहिंसक ही वास्तव में स्वतन्त्र है।'

मनुष्य बुराई करते नहीं सकुचता। इसीलिए दुनिया का प्रवाह विकार की ओर है। भोग और इन्द्रियों की दासता बढ़ रही है। कहा जाता है—प्रकृति विजय की ओर मनुष्य सफल अभियान कर रहा है। पर यह तथ्यहीन दावा है। पानी और अग्नि पर विजय प्राप्त करना ही प्रकृति-विजय नहीं है। शरीर वाणी और मन को जीते बिना प्रकृति नहीं जीती जा सकती। स्व विजय के बिना प्रकृति विजय वरदान न बन अभिशाप बन जाती है। स्व विजय का प्रयत्न बहुत थोड़ा होता है इसीलिए भोग सता रहे हैं, विकार और हिंसा बढ़ रही है। एक की दूसरे के साथ स्पर्धा है। वातावरण भय से भरा है। अहिंसा का दूसरा पहलू अभय है। अपनी मौत से डरना भी हिंसा है। जो दूसरों को पराधीन रखना चाहते हैं, हीन बनाये रखना चाहते हैं, जातिगत भेदभाव रखते हैं, छुआ-छूत, ऊँच-नीच और काले-गोरे के चक्कर में फँसे हुए हैं, उन्हें देखिये वे अभय नहीं हैं। शान्त नहीं हैं। जिनकी भोग लिप्सा बढ़ी हुई है जो परिग्रह के पुतले और शोषण के पुञ्ज बने हुए हैं उनसे पूछिये उन्हें कितनी शान्ति है? शान्तिपूर्ण जीवन वही बिता सकता है जो ऊपर की बुराइयों से दूर है। बुराई से दूर वही रह सकता है जिसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति या स्व नियन्त्रण का पर्याप्त विकास होता है।

९

व्रत नहीं, व्रती का व्यवहार दीखता है।

अकर्त्तव्य, सामान्य कर्त्तव्य, प्रधान कर्त्तव्य

खाना स्वाभाविक लगता है। नहीं खाना स्वाभाविक नहीं लगता। खाने का समय नहीं खाने के समय की अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है। खाना शरीर की जरूरत है इसलिए प्राणी खाता है। जरूरत पूरी होने पर नहीं खाना यह उसका हित है इसलिये वह खाना छोड़ देता है— खाने पर नियन्त्रण कर लेता है। नियन्त्रण शक्ति कम होती है, वह पेटू बन जाता है जरूरत पूरी हो जाने पर भी खाता ही रहता है। यह विकार पक्ष है। परिमित खाना स्वभाव-पक्ष है। आरोग्य-संवर्धन के लिये स्वभाव-पक्ष का प्रतिरोध करना—नहीं खाना भूख सहना—यह हित पक्ष है। समाज की सारी वृत्तियां इन तीनों पक्षों में समा जाती हैं। कानून या विधि विधान व्यक्ति को विकार-पक्ष से स्वभाव-पक्ष की ओर अग्रसर करता है। व्रत स्वभाव पक्ष से हित-पक्ष की ओर जाने की साधना है या यूँ कहना चाहिये—विकार और स्वभाव में विरोध होता है तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में विरोध

होता तब आध्यात्मिक या नैतिक व्रतों की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित की परिभाषा की सज्ञा में अति मात्रा, मात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप-वासना की अति मात्रा पूर्ति विकार है। वासना की परिमित मात्रा-पूर्ति शरीर का स्वभाव है। वासना विजय या वासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्तव्य है। शरीर स्वभाव की दृष्टि से अति मात्रा खाना अकर्तव्य है पर आवश्यक व उपयोगी खाना अकर्तव्य नहीं है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित खाना भी अकर्तव्य हो जाता है। दूसरे के लिये पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिये पूर्ववर्ती का त्याग) कर्तव्य की विशेष प्ररणा से ही होता है। व्यक्ति में विवेक जागरण का उत्कर्ष होता है तभी वह स्वभाव के लिये विकार का और हित के लिये स्वभाव का त्याग करता है।

जिस ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो वही उसका कर्तव्य माना जाय तो अकर्तव्य जैसा कुछ बचा ही नहीं रहता। शोषण सग्रह और सत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वत स्फूर्त प्रेरणा होती है वैसी भले कार्यों के प्रति नहीं होती। किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है इसलिये यह अकर्तव्य है। वैध ढग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार प्राप्ति की ओर जो स्वाभाविक प्ररणा होती है उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है इसलिये वह सामान्य कर्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस में स्वाभाविक प्रेरणा रूप्य नहीं है इसलिये ये प्रधान कर्तव्य हैं।

कानूनी समाज व्यवस्था में—अकर्तव्य का वचन सामान्य कर्तव्य का

नियमण और प्रधान कर्तव्य का विकास—ये तीन भूमिकायें होंगी जिनका स्थूल सकेत आन्दोलन की तीन श्रेणियों से परिलक्षित होता है।

आत्मोदय या आत्म तुला की साधना

व्रत नहीं दीखते, व्रती का व्यवहार दीखता है। जो क्रूर नहीं है उचित मात्रा से अधिक सग्रह नहीं करता है अपने पड़ौसी या सम्बन्धित व्यक्ति से अनुचित व्यवहार नहीं करता है, अपने स्वार्थ को अधिक महत्त्व नहीं देता है अपनी सुख सुविधा व प्रतिष्ठा के लिये दूसरों की हीनता नहीं चाहता है दूसरों के बुद्धि-दौर्बल्य विवशता से अनुचित लाभ नहीं उठाता है—थोड़े में नैतिकता का मूल्यांकन करते हुए अपने आप पर नियन्त्रण रखता है ये वृत्तियां ही अणुव्रती होने का स्वयम्भू प्रमाण हैं। व्रतों की साधना के बिना उनका साक्षात्कारमात्र इष्ट फल नहीं लाता। पहली मंजिल में केवल वस्तु का त्याग होता है। अन्तिम मंजिल में वासना भी छूट जाती है। वस्तु-सग्रह के सस्कार भी मिट जाते हैं। व्यक्ति सस्कारों का पुतला होता है। उसमें सबसे अधिक घने सस्कार अपनी सुख-सुविधा के होते हैं जिनका स्वार्थ वृत्ति में पूर्ण आकलन हो जाता है। पदार्थ-वृत्ति के सस्कार स्वार्थ से कम होते हैं। पदार्थ की भी कई भूमिकायें हैं—परिवार, जाति समाज प्रान्त और राष्ट्र, फिर मनुष्य और फिर प्राणी जगत्। इनमें क्रमशः व्यापकता है। व्यक्ति का स्व जितना विशाल बनता है उतना ही वह स्वय विशाल बन जाता है। यह आत्मौपम्य-बुद्धि या आत्म तुला का विस्तार क्षेत्र है। पहले-पहल वह अपने पारिवारिक जनों को अपने समान समझने लगा। फिर उसने क्रमशः अपनी जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र के व्यक्तियों को अपने समान माना। आगे जाकर

मानव मानव, भाइ भाइ का स्वर गूँजा। अन्तिम चरण में "प्राणीमात्र समान हैं, यह बुद्धि में समा गया।

समाज में आत्मौपम्य बुद्धिवाद फैला हुआ है पर आत्मौपम्य-बुद्धि से फलित होनेवाले स्वार्थ-त्याग के व्रत की साधना नहीं है। ज्ञान का आवरण दूर हुआ है किन्तु मोह नहीं छूटा है। यथार्थ ज्ञान भी मोह के रहते हुए क्रियात्मक नहीं बनता इसलिए एक कदम और आगे बढ़ाना होगा। जैसे अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न किया वैसे मोहको उखाड़ फैंकने की साधना करनी होगी। ऐसा किये बिना अन्याय और अप्रमाणिकता का अन्त नहीं किया जा सकता। आत्म तुल्य का संस्कार मोह से दबा रहता है तभी व्यक्ति दूसरों का दमन, शोषण, उत्पीड़न करता है, दण्ड मारता है, सताता है, हानि पहुँचाता है। जो दूसरों में अपनी जैसी ही अनुभूति देखने लग जाय वह फिर किसी को न मार सकता न सता सकता और न लूट सकता। जातीय और राष्ट्रीय समानता की भावना के कारण कई राष्ट्रों का नैतिक बल बहुत ऊंचा है। बाहरी समानता का भाव भी इतना फल ला सकता है तब भला आन्तरिक समता की वृत्ति के महान् परिणाम के बारे में कैसे सन्देह किया जाय? आत्मिक समानता की वृत्ति का उदय होने पर परिवार, जाति आदि के बाहरी भेद और भौगोलिक आदि कृत्रिम भेद रेखायें ही नहीं मिटतीं उनका उन्माद भी मिट जाता है। उपयोगिता पूरक भेद के रहने पर भी अन्याय बढ़ने का अवकाश नहीं रहता।

परिग्रह का अल्पीकरण

सामाजिक व्यक्ति के लिये अपरिग्रह का पूर्ण व्रत कल्पनामात्र हो सकता है। सचाई यह है कि वह परिग्रह से पूर्ण मुक्ति नहीं पा सकता"

उसका अस्वीकरण कर सकता है अपरिग्रह का व्रत ले सकता है। सम्पत्ति व्यक्तिगत रहे या उसका समाजीकरण हो जाये दोनों परिग्रह हैं। परिग्रह के समाजीकरण में लालसा का रूपान्तर हो जाता है, उसकी निवृत्ति नहीं होती। यह समाज के लिये उपयोगी व्यवस्था हो सकती है पर इसे अपरिग्रह व्रत नहीं कहा जा सकता।

व्यक्तिगत सम्पत्ति में केवल अपना अधिकार होता है और समाजीकृत सम्पत्ति में सामूहिक अधिकार में से व्यक्तिगत भाग मिल जाता है। सम्पत्ति से सम्बन्ध जुड़ा रहता है वैसी दशा में पूर्ण अपरिग्रह की बात नहीं आती। व्रत आत्मोदय की भूमिका पर टिके हुए हैं इसलिये मन में मुख्य बात परिग्रह के अस्वीकरण की है। उसके होने पर समाजीकरण की व्यवस्था स्वयं सरल बन जाती है। अपरिग्रह अणुव्रत की भावना यही है कि कोई व्यक्ति संग्रह कर ही नहीं किन्तु कल की चिन्ता जो होती है—काम किया जा सके या नहीं? कमाया जा सके या नहीं? मिले या नहीं? वही संग्रह का हेतु है। यदि सामाजिक व्यवस्था निश्चिन्तता की स्थिति पैदा करदे तो फिर कौन संग्रह का मोह करेगा? विशिष्ट अणुव्रतियों ने एक लाख के संग्रह की छूट रखी है वह वैयक्तिक व्यवस्था पर आधारित है। जीवन के भरण पोषण की व्यवस्था सामूहिक हो जाये तो उसकी अपेक्षा नहीं रहेगी। भारत का वर्तमान आर्थिक स्थिति का प्रतिदान देखते हुए एक लाख की संख्या अधिक है। पारिवारिक जीवन के सामान्य स्तर की अपेक्षा अधिक नहीं भी हो सकती है। अणुव्रत आन्दोलन का दृष्टिकोण केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। हिन्दुस्तान का आर्थिक स्तर भी ऊँचा उठ रहा है। सारी स्थितियों की विमर्षणा के

बाद अणुव्रतियों को यही संख्या उपयुक्त लगी। यह उत्कृष्ट सीमा है। इससे अधिक संग्रह किया ही नहीं जा सकता। इतना संग्रह किया जाय या रखा जाय यह अपेक्षा नहीं है। बहुत सारे विशिष्ट अणुव्रती इस संख्या का चतुर्थांश भी नहीं रख रहे हैं। बहुतों के पास इतना नहीं भी है। अर्जन-पद्धति पर अंकुश लगने के कारण अधिक संग्रह बढ़ाने का उनके पास साधन भी नहीं है। संग्रह बढ़ाना उनका ध्येय भी नहीं है इसलिये व्यक्तिगत सम्पत्ति रहने से लालसा अधिक बढ़ेगी—ऐसी सामान्य कल्पना नहीं की जा सकती। लालसा का नियमन मन की साधना से होता है। जीवन के निर्वाह के साधनों की सुलभता वैयक्तिक पद्धति से या सामूहिक पद्धति से इसमें विवाद नहीं। लालसा दोनों विकल्पों में भी बढ़ सकती है। व्रत व्यक्ति की आन्तरिक लालसा का नियन्त्रण है। तत्त्वतः यह (लालसा का) नियमन ही परिग्रह का अल्पीकरण है।

अनैतिकता का उद्भव

अनैतिकता आर्थिक और राजनैतिक वातावरण के वैषम्य से उद्भूत होती है—ऐसा माना जाता है। इसमें कुछ सचाई भी हो सकती है पर अबाधित सचाई नहीं है। अनैतिकता भोग-वृत्ति से पैदा होती है भोग की सामान्य मात्रा प्रत्येक सामाजिक प्राणी में होती है। उससे वैषम्य नहीं आता। भोग की मात्रा बढ़ती है तभी आर्थिक और राजनैतिक वातावरण का वैषम्य बढ़ता है। उससे अनैतिकता को उत्तेजना मिलती है। जो लोग अनैतिकता का मूल आर्थिक और राजनैतिक वैषम्य में ढूंढ़ते हैं, भोग वृत्ति के नियमन की ओर ध्यान न देते हुए सिर्फ आर्थिक और राजनैतिक वैषम्य का निवारण किया चाहते हैं उन्होंने बुराई की जड़को नहीं पकड़ा

है। भोग-वृत्ति प्रबल रहेगी तब वैषम्य मिटेगा कैसे ? यह आलोचनीय विषय का महत्वपूर्ण मुद्दा है। आर्थिक समता का प्रयत्न होता है, उच्च व्यवस्था बनती है। समय बीतता है। उभरी हुई भोग-वृत्ति फिर उसपर छा जाती है। वातावरण विषम बन जाता है। भोग के लिये शक्तियोग की उपासना लगभग समूचे मानव समाज में परिव्याप्त है। आर्थिक और राजनैतिक समता तक पहुँचने का प्रयत्न समाज के लिये बुरा नहीं है पर वह केवल यात्रा का विश्रान्ति गृह है—इसे नहीं भुलाना है। आखिर वहाँ तक चलना है जहां अनैतिकता की जड़ भोग वृत्ति पैर रापे बैठी है। उसे उखाड़ फेंकना है। मन का साध्य यही है।

— * * —

१०

क्रमिक विकास का प्रथम सोपान

समाज का समतापूर्ण और स्थिर आर्थिक और राजनैतिक ढांचा ही नैतिकता का आधार है—यह भी अर्ध सत्य है। लड़खड़ाती हुई आर्थिक स्थिति में भी त्याग के संस्कारों में पलनेवाले लोग अनीति से परे रह रहे और रहते आ रहे हैं। आर्थिक साम्य में भी अपराधों का लम्बा सूचीपत्र बनता है। इन दोनों स्थितियों को अन्तिम छोर या आपवादिक घटनायें नहीं कहा जा सकता। यह सचाई है। इसीके सहारे हमें नैतिकता का आधार ढूंढना है। बुराई न करने में अपनी भलाई का विश्वास बुराई का बुरा फल भोगने के निश्चित नियम का विश्वास आत्मा के अमरत्व का विश्वास ये तीन विश्वास नैतिकता के आधार हैं। इनका विकास किये बिना नैतिकता का प्रतिष्ठापन नहीं किया जा सकता। समानापण और सामाजिक एकता की दृढ़ भावना भी नैतिकता का स्थूल आधार बन सकती है पर इस आधार पर नैतिकता व्यापक नहीं हो सकती। वह अपने समाज और राष्ट्र तक ही सीमित होती है। वह दूसरों के प्रति अधिक अनैतिक-कूटता के रूप में उभर आती है जैसा कि बहुत सारे भौतिक विचारप्रधान राष्ट्रों में हो

रहा है। यही हाल आर्थिक और राजनैतिक साम्य के आधार में बध जाने वाली नैतिकता का है। इसलिए हमें पथ की लम्बाई को कम नहीं नापना चाहिये। नैतिकता के सही आधार को प्रकाश में लाया जाये और उसके संस्कार दृढ़मूल किये जायें—यह बहुत बड़ी अपेक्षा है।

अर्जन पद्धति का विचार

शोषण और संग्रह-इन दोनों का आधार अर्जन-पद्धति है। अर्थार्जन की पद्धति जहाँ नैतिकता से पूरित होती है वहाँ शोषण और अनावश्यक संग्रह नहीं होता और जब वह स्वार्थ पूरित होती है वहाँ वैतनिक कर्मचारी की बुद्धि, क्षमता और श्रम का शोषण होता है परिश्रम अधिक लिया जाता है मूल्य कम चुकाया जाता है। यह स्थिति की विवशता से लाभ उठाने की पद्धति है। इससे हृदय में क्रूरता बढ़ती है। अणुव्रती क्रूर व्यवहार न करने और अतिश्रम न लेने का व्रत इसलिये लेता है कि वैसा करना संकल्पी हिंसा है, दूसरों के औचित्य और अधिकारों का जानबूझकर किया जानेवाला हनन है।

संग्रह की लालसा तीव्र होती है तभी अर्जन-पद्धति को बड़ा रूप मिलता है। अणुव्रती संग्रह में विश्वास नहीं करते। वैसी स्थिति में अर्जन पद्धति को भारी भरकम बनाने या बनाये रखने का कोई अर्थ नहीं होता। उन्हें बड़े व्यवसाय बड़े उद्योग से बचना चाहिये। दूसरों के श्रम पर निर्भर बने रहने की वृत्ति तोड़ फेंकनी चाहिये। जहाँ छोटा उद्योग या अपने श्रम पर निर्भर उद्योग या व्यवसाय चलता है वहाँ संकल्पी हिंसा की गुंजायश नहीं होती। अपने हाथ से श्रम करनेवाले व अपनी आवश्यकता—पूरक

वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करनेवाले दूसरों की बुद्धिबल, शारीरबल, श्रमबल के शोषण से सहजतया बच जाते हैं।

जीवन निर्वाह के अनिवार्य साधन तीन माने जाते रहे हैं—(१) कृषि (२) वाणिज्य और (३) शिल्प। अन्न का उत्पादन, वस्त्र का उत्पादन और उनका विनिमय। उत्पादन और विनिमय दो आवश्यक कर्म हैं। इनके आधार पर दो श्रेणियां बनीं—उत्पादक और विनिमयकर्ता। उत्पादक उत्पादन करते और विनिमयकर्ता विनिमय के माध्यम से उत्पादकों की भिन्न भिन्न अपेक्षाओं की पूर्ति करते। एक का उत्पादन से और दूसरे का विनिमय से जीवन निर्वाह हो जाता। सुरक्षा और विद्या-दान ये भी जीवन निर्वाह के सामान्य साधन थे। यह तब की स्थिति है जब मनुष्य में संग्रह का भाव विकसित नहीं हुआ था। केवल जीवन निर्वाह का ही भाव था। ज्यों-ज्यों कृत्रिम आवश्यकतायें बढ़ने लगीं, सुख-सुविधा, विलास व आलस्य या ऐशो आराम बढ़ने लगा त्यों त्यों संग्रह बढ़ने लगा और अर्जन की पद्धतियां शोषणपूर्ण व क्रूर बनती गई। हिंसा प्रधान व भोग प्रधान वातावरण में ऐसा हुआ। यदि समाज अहिंसा प्रधान और त्याग प्रधान बनना चाहे तो उसे इन स्थितियों में परिवर्तन लाना ही होगा, कृत्रिम आवश्यकतायें मिटानी होंगी, सुख-सुविधा व विलास के एकाधिकार को मिटाना होगा, संग्रह को कम करना होगा और अर्जन-पद्धति में से शोषण का भाग दूर फेंकना होगा। ऐसा किये बिना संकल्पी हिंसा से मुक्ति कहां?

अणुव्रती खेती भी करते हैं व्यवसाय और अध्यापन भी करते हैं इनमें से किसी के साथ संग्रह और दूसरों के स्वत्वहरण की वृत्ति जुड़ जाती है वहीं संकल्पी हिंसा आ जाती है। अर्जन पद्धति में शोषण का दोष स्वयं

नहीं आता वह संग्रह भोग और कृत्रिम आवश्यकता-वृद्धि की कारण परम्परा से आता है। अणुव्रत आन्दोलन के व्रत अर्थार्जन की पद्धति को दोषपूर्ण बनानेवाले कारणों का उन्मूलन किया चाहते हैं। इस दृष्टि से कृत्रिम आवश्यकता नियन्त्रण, भोग नियन्त्रण और संग्रह नियन्त्रण के द्वारा अर्जन पद्धति का नियन्त्रण किया गया है।

क्रमिक विकास की परिकल्पना

अणुव्रत आन्दोलन की तीन श्रेणियां हैं —(१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रती। इनका आधार साधना का क्रमिक अभ्यास है। व्यक्ति अपनी वृत्तियों का परिमार्जन करे—यह व्रत ग्रहण की दृष्टि है। एक ही वृत्ति के अनेक रूप और उसकी अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वृत्ति का शोधन नहीं होता केवल रूप और मार्ग का निरोध होता है तब वह मिटती नहीं रूपान्तरित व मार्गान्तरित हो जाती है। बुराई नहीं मिटती, उसके रूप और प्रगट होने का मार्ग बदल जाता है। जैसा कि मैंने एक कविता में लिखा है —

बुरी बुराई होती सबसे, बुरा कि वह संस्कार।
जो कि बुराई को देता है नित्य नया आकार ॥१॥
पतझड़ होता फूल टूटते दृढ़ रहता है मूल।
फिर से आते ही रहते हैं पत्र और फल फूल ॥२॥
अन्तर का शोधन नहीं होता भर जाता है घाव।
पीप दूसरा मार्ग बनाती, सबका यही स्वभाव ॥३॥
नहीं वासनायें मिटती हैं, होता कोरा त्याग।
मार्गान्तर से बाहर आता अन्तर का अनुराग ॥४॥

करो धारणा नहीं शर्तों की सीमा प्रत्याहार।
जुड़ जायेगा चित्त ध्येय से, होंगे तब शृङ्गार ॥५॥
नहीं बने ही बने रहेंगे व्रत केवल शिर भार।
करो न आँख मिचौनी उनसे वे अमूल्य उपहार ॥६॥
शान्ति भ्रान्ति में नहीं मिलेगी, ढूढ़ो सच आधार।
परम तत्त्व है शान्ति साधना जो जीवन का सार ॥७॥

अणुव्रती का ध्येय शर्तों की भाषा में सीमित नहीं है। ध्येय है— जीवन की शान्ति। उसके साधन इतने ही नहीं हैं आगे और बहुत हैं। बुराइयाँ अशान्ति लाती हैं। वे भी इतनी ही नहीं हैं जितना कि यहाँ निषेध हुआ है। यह तो साधना बिन्दु पर दृष्टि को केन्द्रित करने का प्रयत्न है। उसके तीन वर्ग वस्तु स्थिति पर आधारित हैं। व्यक्तिकी असीम योग्यता या कर्तृत्व शक्ति में हम विश्वास है। उसका सुप्त मानस जागरण का सकेत मिलने पर जाग उठता है। जागरण का क्रम किसी का लम्बा और किसी का छोटा हो सकता है। जागरण के बाद आत्म नियमन की बात आती है। वह भी किसी के लिये दीर्घ प्रयत्न साध्य होता है और किसीके लिये स्वल्प प्रयत्न साध्य। ये तीन श्रेणियाँ इसी क्रम विकास के आधार पर निर्मित हुई हैं। यत्न स्वल्प से मध्यम और मध्यम से उत्कृष्ट की ओर गति है। विशिष्ट अणुव्रती का मार्ग आगे बढ़ता ही जाता है।

शर्तों का निर्माण साध्य की कल्पना का आभासमात्र है। पहुँचना उसकी आत्मा तक है। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में 'अणुव्रत-आन्दोलन की विशाल कल्पना का आभास आन्दोलन के ४९ शर्तों में निहित है। पांच अणुव्रतों के ३१, शील और चर्या के १२ ये ४३ व्रत अणुव्रती के

लिये हैं। विशिष्ट अणुव्रती के लिये ६ व्रत इनके अतिरिक्त हैं। अपेक्षा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट अणुव्रती बने। यह न बन सके तो अणुव्रती बने, वह भी न बन सके तो कम से कम प्रवेशक अणुव्रती तो अवश्य बने। प्रवेशक को अणुव्रती बनने और अणुव्रती को विशिष्ट अणुव्रती बनने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा क्रमश: वृत्तियों की विशेष पवित्रता की ओर बढ़ना चाहिये।'

— ** —

११

शब्दावली नहीं, व्रतों की भावनाएँ गूढ़ हैं !

व्रत सारे के सारे वैयक्तिक होते हैं। धन सामाजिक होता है। एक की कमाई का लाभ अनेक को मिल जाता है। व्रत में वैसी बात नहीं है। एक व्यक्ति की व्रत साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलता। प्रासंगिक लाभ तो मिलता है। एक व्यक्ति अपनी भलाई के लिये कोई भी बुरा काम नहीं करता, वह समाज की भलाई में बिना कुछ किये अपना योग दे देता है। अनावश्यक संग्रह नहीं करनेवाला दूसरों की आवश्यकता-पूर्ति का सहज मात्र में निमित्त बन जाता है। यह प्रासंगिक लाभ की बात हुई। हमारा तात्पर्य व्रत के मौलिक लाभ से है। उसका प्रतिपादन नहीं होता। शान्ति उसी को मिलती है जो व्रत के द्वारा अपनी वृत्तियों का शोधन करता है। दूसरों को वह नहीं मिलती। सगे सम्बन्धियों को भी उसका दाय भाग नहीं मिलता। प्रेरणा मिल सकती है निमित्त मिल सकता है पर शुद्धिमूल रूप का समर्पण नहीं होता—यही उनका वैयक्तिक स्वरूप है। यह व्रतों के शुद्ध रूप की मीमांसा हो गई। यहाँ मेरा अभिप्राय दूसरा है। यहाँ उन्हीं व्रतों को 'वैयक्तिक' संज्ञा देनी है जो मुख्यतया व्यक्ति की निजी स्थिति

को ही प्रभावित करनेवाली बुराई का नियन्त्रण करें। व्यक्ति के अलावा छोटे या बड़े समूह को प्रभावित करनेवाली बुराई का नियन्त्रण करनेवाले व्रत 'सामूहिक' हो जाते हैं। वृत्ति-शोधन की अपेक्षा दोनों प्रकार के व्रत एक रूप हैं। यह संज्ञा भेद केवल प्रासंगिक परिणाम या दूसरों पर होनेवाले सहज परिणाम की अपेक्षा से है।

आन्दोलन के ४९ व्रतों में से दस व्रतों का परिणाम मुख्यवृत्त्या व्यक्ति पर ही होता है। इसलिये उन्हें वैयक्तिक कहा जा सकता है। २७ व्रत समाज की स्थिति को प्रभावित करते हैं इसलिये उन्हें सामाजिक व्रत कहा जा सकता है।

१७ व्रत राष्ट्रीय हैं और ६ व्रत अन्तर्राष्ट्रीय। इस गणना-पट्टक में व्रतों की संख्या ६० हो गई है। कई व्रत डमरु मणि की स्थितिवाले या सचारी हैं। वे एक से अधिक क्षेत्र पर सीधा असर डालते हैं। इसलिये अनेक क्षेत्रों में उन्हें गिना गया है। व्रत-संख्या की वृद्धि का हेतु यही है।

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय
१।२	१।१ ५।५	१।१	१।१
४।१	१।२ ५।६	१।३	२।८
४।२	१।५ ६।१	२।७	३।२
४।३	१।६ ६।२	२।८	३।३
६।१	२।१ ६।५	३।३	३।४
६।१	२।२ ६।८	३।४	६।५
६।२	२।३ ६।९	३।६	
६।३	२।४ ६।१०	५।१	

वैयक्तिक	सामाजिक	राष्ट्रिय
६।६	२।५ ६।११	५।२
६।८	२।६ ६।१२	५।३
	३।१	५।४
	३।२	६।१
	३।४	६।२
	३।५	६।५
	४।४	६।७
	४।५	६।८
	५।१	६।११

व्रतों का यह विभाजन स्थूल विचार से किया गया है। इनकी सञ्चरण-शीलता बहुत सूक्ष्म है इसलिये उसे किसी एक के साथ बांधा नहीं जा सकता।

दूसरी बात—व्रतों का यह विभाजन संक्षिप्त रुचि के अनुसार किया गया है। विशद रुचि के अनुसार व्रतों को विभिन्न क्षेत्र व कार्यों में बांटा जा सकता है। जैसे—तीन व्रत पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। ३ व्रत शिक्षा क्षेत्र से सम्बन्धित हैं, २ व्रत चिकित्सा क्षेत्र से जुड़े हुए हैं, १० व्रतों का सम्बन्ध व्यवसाय व उद्योग से है। इसी प्रकार ५ व्रत विवाह से २ व्रत न्यायालय से ४ व्रत खान-पान से २ व्रत परिधान से २ व्रत परम्पराओं से १ व्रत पर्व से १ व्रत धर्म-सम्प्रदायों से १ व्रत पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन से १ व्रत जातिवाद से १ व्रत निर्वाचन से, ५ व्रत सामान्य व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं।

१—पारिवारिक जीवन—११२, ११३, २१४।

२—शिक्षालय—२१७-क, ग, घ।

३—चिकित्सालय—२१७—च ५१४।

४—व्यवसाय गृह—११६, २११, २१५, २१६, २१७-क, ख, ३१२, ३१३, ३१४, ६१८।

५—विवाह-संस्था—४१४, ४१५ ५१५ ५१६, ६१२।

६—न्यायालय—२१२ ३१३।

७—खान पान गृह—६११, ६१२, ६१३, ६१४।

८—परिधान गृह—६१६, ६१७।

९—परम्परा प्रवाह—६११०, ६१११।

१०—पर्व—६११२।

११—धर्म सम्प्रदाय—६१५।

१२—प्रकाशन व सम्पादन गृह—२१८।

१३—जातिवाद—११५।

१४—निर्वाचन पेटी—५१३।

१५—सामान्य व्यवहार—११४, २१५, ३१२, ३१६, ५१२।

१६—संस्था—२१४, ३१५।

व्रत साधनाके प्रासंगिक लाभ

व्रतों की शब्दावली में गूढ़ता नहीं है। उनमें भावनायें गूढ़ हैं। उनकी स्पष्ट रेखाओं को देखना जरूरी है। ११९ में संकल्पपूर्वक घात नहीं करने का व्रत है। उद्देश्यहीन हिंसा, आवेग क्रोध, लालच अधिकार, अभिमान, कपट—की स्थितिमें होनेवाली हिंसा संकल्पी हिंसा है। इसका पहला

रूप शौकिया मनोवृत्ति से बनता है—शिकार खेलना, मैसों या दूसरे जानवरों के साथ लड़ते हुए उन्हें मारना ये और इस कोटि के दूसरे कार्य जीवन के आवश्यक अंग नहीं होते केवल क्रीड़ा या मनोरंजनमात्र होते हैं। इसलिए अणुव्रती उनसे बचें। दूसरा रूप साम्राज्यवादी व संग्रहवादी मनोवृत्ति जातीय और साम्प्रदायिक विद्वेष की मनोवृत्ति से बनता है—आक्रमण करना, आग लगाना, भड़काना, विद्रोह फैलाना—ऐसी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हिंसा के ही रूप हैं। सकल्पपूर्वक घात नहीं करना'—इसका अर्थ न मारने तक ही सीमित नहीं है किन्तु हिंसा को उत्तेजना मिले वैसी प्रवृत्तियाँ न करना—यह भी उसी में समाया हुआ है। इसलिये अणुव्रती ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहें। आक्रमण न करना—यह सामाजिक व राष्ट्रीय महत्त्व से भी आगे जाता है। इसका बहुत बड़ा महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय है। जिस पंचशील ने अनेक राष्ट्रों को मैत्री के सूत्र में बांधा है उसमें एक शील है—आक्रमण न करना। यह अणुव्रत भावना की बहुत बड़ी विजय है। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का मूल हिंसा है तथा राजनीति के क्षेत्रों में अनाक्रमण की सधि का स्वर विवशता के बिना ही बलवान बनता जा रहा है। लोभ और विद्वेषवश वैयक्तिक या जातीय आक्रमण न हो वैसा विवेक जागरण भी अणुव्रत आन्दोलन का प्रमुख ध्येय है।

अनाक्रमण की वृत्ति का लाभ है—शान्ति जातीय शान्ति, राष्ट्रीय शान्ति विश्व-शान्ति। अनाक्रमण मैत्री की पहली मंजिल है। आक्रमण की वृत्ति क्रूरता से बनती है। वह अंकुरित न हो उसके लिये छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। (१) कठोर बन्धन से बांधना (२) अङ्ग विच्छेद करना (३) डाम देना (४) निर्दयतापूर्वक पीटना

१२

आर्थिक बोझ से अनैतिकता की ओर

सामाजिक परम्परा जितनी जटिल होती है, अर्थ का बोझ जितना अधिक होता है उतनी ही कठिनाइयां जीवन में भर आती हैं। अनैतिकता बढ़ने में लालसा मुख्य कारण है। परिस्थितियों से वह उबलती है। व सामाजिक धारणाओं या मान्यताओं से निर्मित होती हैं। सामाजिक धारणाओं को बदले बिना परिस्थितियां नहीं बदलतीं। परिस्थितियों के बदले बिना लालसा की उग्रता नहीं मिटती। लालसा की तीव्रता रहते हुए अनैतिकता का अन्त नहीं होता। समाज के रीति रिवाज और परम्परायें बड़ी खर्चीली होती हैं। तब ज्यों त्यों धन कमाने की बात प्रधान बन आती है। इसलिए अनैतिकता को उखाड़ फेंकने के लिये सामाजिक धारणाओं को बदलना आवश्यक है। व बदलती हैं तब अर्थ संग्रह की वृत्ति अपने-आप शिथिल बन जाती है।

दहेज मृत्यु भोज विवाह भोज कन्या-वर विक्रय आदि परम्परायें रूढ़ हो चुकी हैं परम्परा का जन्म कभी किसी विशेष प्रसंग में होता है फिर वह चल पड़ती है। आदिकाल में इनका प्रादुर्भाव हुआ ... थ

हैं। अब गौरव की भावना जहां है, वहां अनीति का स्रोत नहीं सूखता।

अधिक खाना, अधिक मात्रा में खाना, अधिक वस्तुएं खाना, आवश्यकता की पूर्ति नहीं है। यह भोग वृत्ति का प्रभाव है।

दूसरों को सुलभ न हो वैसे घर बनाना, वैसे वस्त्र पहनना, वैसी वस्तुएं खाना, वैसी वस्तुओं का उपयोग करना—बड़प्पन की मान्यता है, दूसरों से काम कराने की वृत्ति में आलस्य और बड़प्पन की मान्यता है। इन दोनों के बीज छिपे हुए हैं। इन सबकी पूर्ति का हेतु अधिक संग्रह है। अधिक संग्रह का हेतु अनैतिकता है। उससे बचने के लिये जीवन को अब भार से दबा देनेवाली सामाजिक मान्यता, बड़प्पन की मान्यता, भोग वृत्ति और परावलम्बन से किनारा लेना होगा।

अणुव्रत-आन्दोलन जीवन का संयम-दर्शन है। जीवन चलाने की जो प्रक्रियायें हैं उनमें असंयम की मात्रा का तरतम भाव हो सकता है हिंसा और परिग्रह की कमी बेसी हो सकती है। संयम की ओर जाने की दुरूहता या सुलभता हो सकती है, आसक्ति की न्यूनाधिकता हो सकती है पर उनमें स्वयंभूत संयमशीलता या स्वरूपतः संयममयता नहीं होती है। अणुव्रत स्वयंभूत संयम है। इसलिए यह जीवन चलाने की प्रक्रिया नहीं है यह जीवन को संयत करने की साधना है। जीवन निर्वाह की दिशा बड़ी हिंसा से अल्प हिंसा बहु परिग्रह से अल्प परिग्रह, अति आसक्ति से अल्प आसक्ति की ओर चलती है। वह संयम प्राप्ति की सुलभता का हेतु है। जीवन प्रक्रिया को सरल बनाये बिना संयम आता नहीं और आ जाये वह टिकता नहीं। इसलिए अणुव्रती जीवन निर्वाह की प्रक्रिया को भारी बनाये नहीं रख सकता।